स्वर्ण-जयन्ती उपहार

आर्य्य-जीवन

अर्थात्

गृहस्थ-धर्म्म

प्रकाशक—

आर्य्य-साहित्य मण्डल लि०, अजमेर.

॥ ओ३म् ॥

आर्य्य-जीवन

और

गृहस्थ-धर्म्म

लेखक व सम्पादक—

श्री रघुनाथप्रसाद पाठक,

सहायक सम्पादक—'सार्वदेशिक', देहली.

आर्य्यवत्सर १९७२९४९०३८

संवत् १९९४ विक्रमीय

दयानन्दाब्द ११३

प्रथमावृत्ति १०००

मूल्य ।=) आना

प्रकाशक—
आर्य-साहित्य-मण्डल लिमिटेड, अजमेर.

मुद्रक—
बाबू मथुराप्रसाद शिवहरे
दी फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, अजमेर

विषय-सूची

पूर्व-वचन (पृ० क—घ)

(१) जिसमें गृहस्थ के लोग सदाचारी हों, परस्पर प्रीतियुक्त हों।

(२) जिसमें उत्तम और सभ्य सन्तान हों।

(३) जो धन, धान्य, और पशुओं से पूर्ण हो।

(४) जिसमें जीवन हो, जिसके लोग पुरुषार्थी, स्वस्थ, यशस्वी और बलवान् हों।

(५) जिसमें विद्वानों और अतिथियों का सत्कार होता हो और दान दिया जाता हो।

(६) जिसमें पञ्चयज्ञ इत्यादि यज्ञ होते हों।

उत्तम सामाजिक व्यवहार

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका सम्बन्ध दम्पति, कुटुम्ब, जाति समाज और संसार के मनुष्यों और प्राणीमात्र से है। इसलिए उसका लोगों के साथ व्यवहार श्रेष्ठतम होना चाहिए और इन व्यवहारों का मूल मन्त्र प्रेम, दया और सहानुभूति होना चाहिए। परन्तु ये व्यवहार सदाचार की सुदृढ़ भित्ति के विना क़ायम नहीं रह सकते। इसलिये जीवन में—

सदाचार

धारण करने की अत्यन्त ज़रूरत है क्योंकि सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है। सदाचार की मुख्य मर्य्यादा हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य भाषण और इन पापों को करने वाले दुष्टों के साथ सहयोग करना इन सप्त मर्य्यादाओं का उल्लंघन न करना अर्थात् इनमें से किसी भी पाप को न करना है। इसके अतिरिक्त सत्य भाषण करना, सत्य मानना, सत्य कहना, सत्य और मधुर भाषण करना, मन, वचन और कर्म से मधुर मूर्ति बनना, पापों से बचना, मन को निष्पाप रखना, स्वच्छ और पवित्र रहना, उदार और दानशील बनना, विद्वानों का संग करना आदि व्यवहारों का अनुष्ठान और गुणों का धारण

करना भी सदाचार है। सदाचारी बनने के लिये मनुष्य को अपनी आत्मा की पवित्र आवाज़ को सुनने और उस पर चलने का अभ्यासी होना तथा उत्तम व्रतों वाला, दृढ़संकल्प और सिद्धान्त पर अटल रहने वाला होना चाहिए। उत्तम व्रत ही सदाचार के मूल हैं। दृढ़ प्रतिज्ञावान् ही सदाचार की रक्षा में सफल होते हैं। उत्तम व्रतों और संकल्पों के लिए पर्याप्त अभ्यास दरकार होता है। विना अभ्यास के मनुष्य का व्रतों पर स्थिर रहना कठिन होता है। अभ्यास संस्कारों से होता है इसलिए श्रेष्ठ संस्कारों द्वारा, मनुष्य के सुसंस्कृत होने की नितान्त आवश्यकता होती है। संस्कार का अर्थ मन, वाणी और शरीर का सुधार है। ऊपर जिस सदाचार का का वर्णन किया गया है उस तक पहुंचने के लिए मनुष्य का जन्म से ही नहीं वरन् जन्म से पूर्व गर्भ से ही संस्कृत होना जरूरी है और इसके लिए संस्कारों में मुख्य संस्कार आदर्श वैदिक विवाह-संस्कार होना चाहिए। वर वधू हर प्रकार से समान और योग्य होने चाहिए।

आजीविका

मनुष्य का कार्य केवल सदाचारी बनने से ही नहीं चल सकता, उसे आजीविका की जरूरत होती है। आजीविका पवित्र और सात्विक होनी चाहिए और सच्चे और न्यायोचित उपायों से उपलब्ध करनी चाहिये।

समाज की रक्षा

इस सम्बन्ध में 'वेदों' में बहुत उत्तम प्रकाश मिलता है। वेदों में उपदेश किया है कि जहां २ भय की संभावना हो वहीं २ रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। वेदों के रक्षा-सम्बन्धी उपदेश ४ भागों में बांटे जा सकते हैं। बीमारी से रक्षा, प्राकृतिक विप्लवों से रक्षा, समाज के भीतरी दुष्टों से रक्षा और बाहर के शत्रुओं से रक्षा। इन चारों प्रकार की रक्षाओं को आयुर्वेद, यज्ञ, प्रार्थना और राज्यप्रबन्ध के अन्तर्गत रक्खा गया है।

उपर्युक्त विवेचन से कई बातें स्पष्ट होती हैं। उनमें एक तो यह है

कि इन शर्तों की पूर्ति से मनुष्य-समाज सुखी, सीधा-सादा, विद्वान्, सदाचारी और उद्योगी, वा एक शब्द में लौकिक दृष्टि से उन्नत होगा। और पारलौकिक दृष्टि से समुन्नत होने की उसमें पूरी २ क्षमताएँ होंगी क्योंकि ऐसा समाज खाने-पीने और रक्षा इत्यादि की चिन्ताओं से मुक्त होगा, सुख और शान्ति का साम्राज्य होगा और लोगों को परलोक चिन्तन के लिए काफ़ी समय और सुविधाएँ होंगी। एक दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि ये विधियाँ एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई हैं। बिना एक के दूसरी फलवती नहीं हो सकती और समाज का वांछित विकाश नहीं हो सकता है। एक तीसरी बात यह स्पष्ट होती है कि गृहस्थाश्रम आर्य्य-जीवन के स्वाभाविक विकाश का मूल स्रोत है। गृहस्थाश्रम का क्या रूप होना चाहिए, इसी को हमने आगे के पृष्ठों में रखने का यत्न किया है।

इस यत्न में मुख्यतया श्री पूज्य महात्मा नारायण स्वामी जी महाराज के एतद् विषयक प्रवचनों से जो वे समय २ पर देते रहे हैं और जिन्हें हम लेखबद्ध करते रहे थे, सहायता ली गई है। इसके लिए हम पूज्य स्वामी जी महाराज के कृतज्ञ हैं। जिन अन्य ज्ञात वा अज्ञात महानुभावों के विचारों से हमने लाभ उठाया है, हम उन के भी आभारी हैं।

यदि ये पृष्ठ आर्य्य-जीवनों के विकाश तथा रक्षण में सहायक सिद्ध हुए, तथा सात्विक साहित्य के योग्य हुए तो निश्चय ही हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। परम पिता परमात्मा हमें आर्य्य-जीवन के आचरण में समर्थ करें, इसी कामना के साथ हम यह पुस्तक जनता के समक्ष रखते हैं।

सिवहारा
(बिजनौर)
१६-६-३७

ओ३म्

आर्य्य-जीवन

और

गृहस्थ-धर्म

आश्रम-व्यवस्था

आर्य-जीवन की आधारशिला ४ आश्रम बतलाये गये हैं। वे आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। इन चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों का विधान पृथक् २ निम्न प्रकार है:—

ब्रह्मचर्य—वीर्यरक्षा के द्वारा शरीर और दिमाग़ को बलवान् बनाना और विद्याध्ययन करना।

गृहस्थ—विवाह-सूत्र में बंधकर धर्मपूर्वक सन्तान उत्पन्न करना, समाज को श्रेष्ठ नागरिक देना, पुरुषार्थ और परोपकार का जीवन व्यतीत करना, धर्मयुक्त कर्मों में तन, मन और धन लगाना तथा लौकिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति करना।

वानप्रस्थ—निवृत्ति मार्ग की तैयारी करते हुए शिक्षा और सेवा के द्वारा जनता का निष्काम भाव से उपकार करना।

संन्यास—आश्रम-व्यवस्था की समुचित व्यवस्था करना, आत्मा और परमात्मा में रत होते हुए धर्म्म-प्रचार करना।

इन चारों आश्रमों में दो प्रधान और दो सहायक आश्रम हैं। वस्तुतः लोक और परलोक के साधक गृहस्थ और संन्यास दो ही आश्रम हैं। गृहस्थ लोक का और संन्यास परलोक का साधक है। इन दोनों को दृढ़ करने के लिए ही अन्य दो सहायक आश्रम बनाए गए हैं। गृहस्थाश्रम के सुचारु रूप से अनुष्ठान के लिए ब्रह्मचर्य और संन्यासाश्रम के लिए वानप्रस्थाश्रम हैं।

इन चारों आश्रमों का मूलतत्त्व सुखी-समृद्धिवान् होना एवं समाज का पूर्ण विकाश और कल्याण करना है। इनमें सब प्रकार की क्षमताएँ विद्यमान हैं। इस बात को बड़े २ समाजशास्त्री और मनोवैज्ञानिक एक स्वर से स्वीकार करते हैं। इस आश्रम-व्यवस्था का रहस्य मनुष्य को उसके अन्तिम ध्येय मोक्ष तक पहुँचा देना है।

ये आश्रम बतलाते हैं कि बिना किसी प्राणी की आयु और भोग में धक्का पहुँचाए अपनी आयुष्य भोग को प्राप्त करते हुए स्वयं मोक्ष प्राप्त करो और अन्य प्राणियों के लिए ऐसा मार्ग बनादो जिससे सब प्राणी अपने कर्म-फलों को भोग कर मनुष्य-शरीर के द्वारा मोक्ष की सिद्धि करें। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए मनुष्य को अपने जीवन के दो लक्ष्य बनाने होते हैं। एक तो यह कि जहाँ तक हो सके इस सृष्टि से बहुत ही कम भोग्य पदार्थ लिए जावें और दूसरा यह कि जहाँ तक हो सके तपस्वी जीवन के साथ सृष्टि के कारणों, आत्मा, परमात्मा का साक्षात् किया जाय। इन दोनों कर्त्तव्यों को लक्ष्य बनाने से धर्म्म का सिद्धान्त दृढ़ हो जाता है और धर्म्म की स्थिरता से मोक्ष का मार्ग सब के लिए सुलभ होजाता है। धर्म्म की स्थिरता का साधारण साधन अर्थ और काम का सामंजस्य है और दूसरा विशेष साधन ईश्वर परायणता है। इस धर्म्म की स्थिरता से ही संसार की स्वाभाविक स्थिति कायम रहती है अन्यथा नहीं। अर्थ और काम का ठीक २ सामंजस्य गृहस्थाश्रम में होता है।

गृहस्थाश्रम

यह आश्रम सब आश्रमों में मुख्य और श्रेष्ठ आश्रम है। भरण-पोषण इत्यादि के लिए अन्य तीन आश्रम इसी पर अवलम्बित हैं। यही बात इस आश्रम को ज्येष्ठत्व प्रदान करती है और मनु इत्यादि आर्ष ऋषियों ने एक स्वर से इस बात को स्वीकार भी किया है। इस आश्रम में उन्हीं ब्रह्मचारियों और ब्रह्मचारिणियों को प्रवेश का अधिकार है जिन्होंने पूर्ण विद्या और बल प्राप्त कर लिया हो, जो शरीर और मन से तपस्वी हों, जो समाज में नागरिक के रूप में अपने कर्त्तव्यों को जानते हों और जिनमें हर प्रकार की क्षमता और तैयारी हो।

विवाह

इस आश्रम का प्रारम्भ विवाह से होता है। यह संस्कार हमारे उन १६ संस्कारों में से है जिनके द्वारा मनुष्य सुसंस्कृत और श्रेष्ठ बना करता है। संसार में विवाह-प्रथा किसी न किसी रूप में सब जगह पाई जाती है और इसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न अनेकानेक दृष्टिकोण देखे और सुने जाते हैं। हम यहाँ केवल एक-दो मुख्य २ दृष्टिकोणों पर विचार करते हैं। एक दृष्टिकोण तो यह है कि 'विवाह' एक ठेका है, सौदा है जिसे स्त्री-पुरुष जब चाहें कर सकते हैं और जब चाहें तोड़ सकते हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि विवाह ठेका वा सौदा नहीं वरन् अटूट धार्मिक और पवित्र सम्बन्ध है जिसमें स्त्री-पुरुष बँधते हैं। एक तीसरा दृष्टिकोण यह भी है कि 'विवाह' एक पुरानी सड़ी-गली, रद्दी रूढ़ि है; यह स्त्री-पुरुषों के सुखों, आजादी और स्वाभाविक विकास में बाधक है और समाज की सुख-शान्ति और एकता की विनाशक है अतः स्त्री-पुरुषों को इसके चक्कर में पड़ने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए और

आज़ादी के साथ स्त्री पुरुषों को आपस में मिलकर काम-वासना की सन्तुष्टि कर लेनी चाहिए और जब तक प्रेम क़ायम रहे तब तक साथ रहना और जब प्रेम क़ायम न रहे और आपस में न पटे तो अलग होकर दूसरा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करने में आज़ादी रहनी चाहिए। ग़नीमत इतनी है कि यह दृष्टिकोण भारत में एक-देशीय है, व्यापक नहीं है, फिर भी उपेक्षणीय नहीं है। पहले और तीसरे दृष्टिकोणों की भयङ्करता का भली प्रकार दिग्दर्शन पश्चिम के देशों में और कुछ २ इस देश में भी देख पड़ रहा है। भारत में इन दृष्टिकोणों के दुष्परिणामों की कल्पना ही भयावह है। इस प्रकार के दृष्टिकोणों के दुष्परिणाम स्त्री-पुरुषों का पशुवत् व्यवहार, प्रति-योगिता, जीवन की अशान्ति, तलाक, व्यभिचार, स्वतन्त्रता के नाम पर उच्छृङ्खलता, आत्महत्याएँ, शिशु और भ्रूण-हत्याएँ इत्यादि हैं।

विवाह न करने के दृष्टिकोण को विवाह की निकृष्टता की प्रति-क्रिया कहना ही ज्यादा उपयुक्त होगा। विवाह प्रथा के उठा देने से व्यक्ति और समाज दोनों ही विनाश की ओर अग्रसर हो जायँगे, पारिवारिक जीवन नष्ट-भ्रष्ट होकर समाज में तबाही मच जायगी। कोई किसी के सुख-दुःख में शरीक होना और वृद्धावस्था में वा बीमारी की हालत में सेवा शुश्रूषा करना अपना कर्त्तव्य न समझेगा और समाज सन्तानों विशेषतः उत्तम सन्तानों से शून्य होजायगा। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को इस दृष्टिकोण की भयङ्करता से परिचित और 'विवाह' संस्था को अधिक से अधिक पवित्र रक्खा जाय।

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार विवाह अटूट सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण के अनुसार स्त्री और पुरुष ख़ास प्रतिबन्धों के अनुसार उद्देश्य विशेष की सिद्धि के लिए आपस में मिलते हैं। धर्मयुक्त कर्म, अपने २ वर्ण के अनुसार कर्त्तव्य कर्मों का अनुष्ठान, धर्मानुसार

सन्तानोत्पत्ति, पालन-पोषण इत्यादि उद्देश्य हैं तथा पूर्ण विद्या, बल, सभ्यता, सुशीलता, समान गुण, कर्म, स्वभाव, धन तथा हर प्रकार की तय्यारी ख़ास प्रतिबन्ध हैं।

इस दृष्टिकोण के अनुसार हरएक के लिए विवाह करना ज़रूरी नहीं है। जो व्यक्ति काम पर विजय कर सकते हों वे विना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए मोक्ष की सिद्धि कर सकते हैं परन्तु चूंकि काम पर विजय प्राप्त करना प्रत्येक का काम नहीं है और समाज को उत्तम सन्तान देना और परोपकार करना आवश्यक कर्त्तव्य है इसलिए प्रायः लोग प्रवेश करते हैं और प्रवेश करना भी चाहिए।

पहले दृष्टिकोण को पश्चिम का और दूसरे दृष्टिकोण को पूर्व (भारत) का दृष्टिकोण कह सकते हैं। इन दोनों दृष्टिकोणों के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरञ्जक उक्ति प्रचलित है। पश्चिम के दृष्टिकोण के अनुसार Love ends when married अर्थात् विवाह होते ही स्त्री-पुरुषों के प्रेम का अन्त हो जाता है। पूर्व के दृष्टिकोण के अनुसार Love begins when married अर्थात् विवाह होते ही प्रेम शुरू होजाता है। इस उक्ति से स्पष्ट है कि पूर्व की विवाह की मर्य्यादा न केवल पश्चिम की ही वरन् संसार की अन्य विवाह-मर्य्यादाओं से उच्च और श्रेष्ठ है। पूर्व की विवाहमर्य्यादा वही है जिसका वेद प्रतिपादन करते हैं।

वेदों के अनुसार 'विवाह' एक पवित्र आत्मिक सम्बन्ध है। इसमें स्त्री-पुरुष संसार को श्रेष्ठ बनाने के लिए अपने को बाँधते हैं।

विवाह शब्द की वैदिक व्याख्या बड़ी उत्तम है। इस व्याख्या के अनुसार विवाह (वि + वाह वि-असाधारण, वाह-गाड़ी) एक विलक्षण गाड़ी है। यह जीवन की गाड़ी है जिसमें स्त्री और पुरुष दो पहियों के सदृश हैं अथवा विवाह वह क्रिया है जिसके द्वारा

विशेष रीति से गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष प्रवेश करते हैं अथवा वह प्रयत्न है जो गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुरुष मिलकर करते हैं।

कुल

कुल की उत्तमता श्रेष्ठ विवाह की एक अनिवार्य शर्त है। उत्तम कुलों के लड़कों और लड़कियों का ही आपस में विवाह होना चाहिए। पवित्रता, सादगी, सदाचार, उत्तम व्यवहार और श्रेष्ठ वातावरण कुल की उत्तमता की कसौटी हैं; न कि धन-वैभव, शान-शौक़त, ठाठ-बाठ और आचरण रहित विद्या, ज्ञान इत्यादि। उत्तम कुलों की सन्तानों के संस्कार प्रायः अच्छे होते हैं और ऐसी सन्तानों के वैवाहिक जीवनों के सुखी होने की पूरी २ सम्भावना होती है। यूरोप और अमेरिका में प्रतिदिन प्रेम-प्रणय (Love-marriage) कहे जाने वाले विवाह होते हैं। ऐसे विवाहों के परिणामस्वरूप अशान्ति, दुःख और निकृष्टता को देखते और सुनते हुए उन्हें 'वासना-प्रणय' (Lust-Marriage) कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। वासना से अन्धा होजाना और एक दूसरे के कुल और पूर्व इतिहास को जाने विना आत्म-समर्पण कर देना वासना-प्रणय कहलाता है। अतएव कुलों का ठीक २ ज्ञान-प्राप्त करने के पीछे ही विवाह होना चाहिए।

वर और वधू का चुनाव

वर और वधू के चुनाव में लड़के और लड़की की पसन्द मुख्य होनी चाहिए, माता-पिता वा अभिभावकों की नहीं। क्योंकि लड़के और लड़की की इच्छानुसार वर और वधू के चुनाव से वैवाहिक जीवन में पारस्परिक प्रेम, प्रीति और प्रसन्नता रहती है तथा सन्तान उत्तम पैदा होती है। यह रीति स्वयंवर की रीति कहलाती है। इस रीति से हुए विवाह उत्तम कहलाते हैं। जब लड़के और लड़की विवाह करना चाहें तब उनके विद्या, विनय, शील, रूप, आयु, बल,

कुल और शरीर का परिमाण इत्यादि यथायोग्य होना चाहिए। जबतक इन गुणों का मेल नहीं होता तब तक विवाह में पूर्ण सुख प्राप्त नहीं होता। अपने जीवन-संगी का चुनाव करते समय लड़के और लड़कियों को पूर्ण सावधानता से काम लेना चाहिए। उत्तम चुनाव में उन्हें आवश्यकतानुसार अपने माता-पिता, अभिभावकों, इष्ट-मित्रों और हितू बान्धवों से सहायता लेनी चाहिए और इन लोगों को भी उन्हें यह सहायता प्रदान करने में किसी प्रकार की उदासीनता न दिखानी चाहिये।

विवाह में लड़के और लड़की की योग्यता

गृहस्थ में प्रविष्ट होने वाले लड़कों और लड़कियों को पृथक् २ योग्यताओं की ज़रूरत होती है। दोनों की योग्यताओं का कुछ परिचय नीचे दिया जाता है।

लड़के की योग्यता

पहली बात जो किसी भी पुरुष के लिए आवश्यक है वह ब्रह्मचर्य्य है। उसे कम से कम २४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के नियमों के साथ विद्याध्ययन करने के बाद गृहस्थ में प्रवेश की इच्छा करनी चाहिए।

दूसरी उपयुक्त बात यह है कि लड़के के पास पर्याप्त धन होना चाहिए जिससे वह गृहस्थ का पालन कर सके। यदि धन न हो तो कोई व्यवसाय शुरू करके विवाह का साधन कर लेना चाहिए। बे-रोज़गारी के इस भयङ्कर युग में नवयुवकों को यह बात भली-भांति नोट कर लेनी चाहिए। दुर्भाग्य से इस देश में माता-पिता बहुधा कमाने में समर्थ होने से पूर्व ही अपने बच्चों का विवाह कर देते हैं। उनकी यह बड़ी भारी भूल है। बेकार दामाद का अपने

ससुराल पर भरण-पोषण के लिए आश्रित रहना और प्रति वर्ष सन्तान पैदा करते रहना देश के दुर्भाग्य का कारण बन जाता है। दुःख है इस प्रकार के दामादों की संख्या हमारे यहाँ दिन प्रतिदिन वेग के साथ बढ़ रही है। यह गति भयावह और अवाँछनीय है।

तीसरी आवश्यक बात यह है कि विवाहार्थी युवक को अपना दृष्टिकोण ऐसा बनाना चाहिए जिससे वह अपनी पत्नी को समानाधिकार वाले मित्र की तरह समझे और उसके साथ उसी प्रकार का व्यवहार कर सके। इसके लिए उसे स्त्री-पुरुष की स्थिति और अधिकारों को समझ लेना ज़रूरी है। उपनिषद् में एक जगह अलङ्कार के रूप में गार्हस्थ शरीर को उतने परिमाण का बतलाया है जितना स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर होते हैं। जब गार्हस्थ शरीर के दो भाग किए तो वे पति और पत्नी हुए। इसलिए वे आधे २ भाग (पति + पत्नी) एक दाने की दो दालों अथवा पूरी सीप के २ भागों (आधे २ सीप) के सदृश हुए[1]। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार एक दाने की दो दालें अथवा एक सीप के दोनों आधे बराबर २ होते हैं उसी प्रकार पति और पत्नी में समता होनी चाहिए। समता को स्वीकार करने पर ही युवक और युवती गृहस्थाश्रम को अच्छा और गृहस्थजीवन को श्रेष्ठ बना सकते हैं। वेदादि सत्-शास्त्रों में स्त्री-जाति का बड़ा मान किया गया है और उन्हें वे समस्त अधिकार दिये गये हैं जो पुरुषों को दिए गए हैं, उदाहरणार्थ कतिपय बातें यहाँ दी जाती हैं।

वेद में एक जगह कहा गया है कि—

स्त्री पति को प्राप्त करे। उत्पादन में समर्थ पति उसे सफल

---

१ स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवाऽऽत्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव ॥
बृहदारण्यकोपनिषद् १ । ४ । ३ ॥

मनोरथ करे। स्त्री रानी बनकर उत्तम पुत्र पैदा करे और पति को प्राप्त होकर शोभा प्राप्त करे [१]।

एक दूसरी जगह कन्याओं को ब्रह्मचर्य्य का पालन करके युवा पति के साथ विवाह करने की शिक्षा दी गई है [२]। अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्मचर्य्य का व्रत पुत्रों के लिए आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य्य का व्रत पुत्रियों के लिए भी आवश्यक है।

अथर्ववेद ३। २५। ४ में स्त्रियों में इन गुणों के होने का विधान किया गया है:—

मृदु, निमन्यु (क्रोध रहित) प्रियवादिनी, अनुव्रता (पति के व्रत में सम्मिलित होने वाली (क्रतौ असः) पति के कार्य्यों में सहायता देने वाली [३]।

अथर्व० १। १४। १०४ में उन्हें कन्या (कमनीया) कुलपा, (ते पत्युः भगम्) अर्थात् पति का ऐश्वर्य कहा है [४]।

अथर्ववेद [१। २७। ४] में स्त्रियों के नेतृत्व का इस प्रकार वर्णन है:—

इन्द्राण्येतु प्रथमाऽजीताऽमुषिता पुरः।

अर्थात्—जिसे कोई जीत न सके, न कोई लूट सके, ऐसी

---

१ इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा विराजतु॥
अथर्ववेद २। ३६। ३॥

२ अथर्ववेद ११। ५। १८

३ मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ अथर्व० ३। २५। ४॥

४ (१) 'एषाते राजन् कन्या वधूः'॥ (२) 'एषाते कुलपा राजन्'॥
(३) 'अपि नह्यामि ते भगम्'॥ [अथर्व० १। १४। २, ३, ४॥

इन्द्राणी का अर्थ सेनापत्नी किया गया है अर्थात् उन्हें नेतृत्व का भी अधिकार वेद ने दिया है।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई भारतीय महिलाओं की वीरता, अदम्य उत्साह, कुशल नेतृत्व और आत्मोत्सर्ग की अमिट कहानी छोड़ गई है। अंग्रेज़ों के सन्धि तोड़ देने और उन्हें 'गोद' के अधिकार से वञ्चित कर देने पर उन्होंने अंग्रेज़ों के साथ युद्ध किया और अपनी वीरता का उत्तम परिचय दिया। अंग्रेज़ों ने उनकी समाधि पर जो ग्वालियर में है, लिखा है कि हमने जिन से युद्ध किया है उनमें सब से ज्यादा वीर लक्ष्मीबाई थीं।

अथर्ववेद [३ । ८ । २] में स्त्रियों को 'वीर पुत्रों को देने वाली' कह कर सम्बोधन किया गया है[1]।

ऋग्वेद [१० । ८५ । ४६] में नवागता वधू को घर की रानी कहा गया है[2]।

यजुर्वेद [१२ । ६२] में कन्या को अधिकार ही नहीं दिया गया है वरन् उसके लिए यह ज़रूरी ठहराया गया है कि वह उस युवक से विवाह न करे जो एक से अधिक पत्नी रखने का इच्छुक हो[3]।

यजुर्वेद [१२ । ६२ में] 'स्त्री' को 'निऋते' (सत्याचरण करने वाली) कहकर विधान किया गया है कि 'यम'– नियन्ता पुरुष और 'यमी' न्याय करने वाली स्त्री के साथ पृथ्वी पर

---

१ 'हुवे देवीमदितिं शूरपुत्राम्'। अथर्व० ३ । ८ । २ ॥

२ साम्राज्ञी श्वशुरे भव साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ ऋ० १०।८५।४६॥

३ अन्यमस्मदिच्छ सा त इत्या। यजु० १२ । ६२ ॥

आरूढ़ हो। भाव यह है कि प्रबन्ध और न्याय दोनों विभागों में उन्हें भाग लेने का आदेश है[1]।

वेद की इन शिक्षाओं का भाव यह है कि जो अधिकार पुरुषों के हैं वही सब स्त्रियों के हैं। यही कारण था कि प्राचीन काल की स्त्रियों ने हर क्षेत्र में बड़ी उन्नति की थी।

प्राणिशास्त्र और स्त्री की महत्ता

प्राणिशास्त्र में जीवों के दो भेद हैं। एक अनुलोम प्राणी (Creating body) जिसमें निर्माण-क्रिया होती है। दूसरा प्रतिलोम परिणामी (Destroying body) जिसमें विध्वंसकारी बल होता है।

विध्वंस सदैव रचना के बाद हुआ करता है। इसलिए पहला नम्बर स्त्री का और दूसरा पुरुष का होना चाहिए। कम से कम उनकी समानता में तो आपत्ति हो ही नहीं सकती। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि अपने लिंगभेद (Sex) की दृष्टि से वह अधिक से अधिक उन्नति कर सकता है, उन्नति का द्वार प्रत्येक के लिए खुला रहना चाहिए। कुछ कार्य्य ऐसे हैं जो केवल पुरुषों के लिये है और कुछ ऐसे हैं जो केवल स्त्रियों से सम्बन्ध रखते हैं। जो कार्य्य केवल पुरुषों के लिए हैं उन्हें स्त्रियाँ नहीं कर सकतीं और जो कार्य्य केवल स्त्रियों के लिये हैं उन्हें पुरुष नहीं कर सकते। कर्त्तव्यों की इस विभिन्नता की दृष्टि से पुरुष और स्त्रियों की शिक्षा में भिन्नता का होना अनिवार्य्य है। देश का यह दुर्भाग्य है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली इस भेद को महत्त्व नहीं दे रही है।

इस सब विश्लेषण का भाव यह है कि पुरुष को अपनी पत्नी के साथ समानाधिकार वाले मित्र की नाईं वर्तना चाहिए।

---

१ नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु॥ यजु० १२। ६२॥

चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नवयुवकों को दृढ़ सङ्कल्प कर लेना चाहिए कि मैं पत्नीव्रत के इस नियम का दृढ़ता के साथ पालन करूंगा और किसी दशा में भी इस सङ्कल्प को तोड़कर एक पत्नी को विद्यमानता में दूसरा विवाह वा परस्त्रीगमन नहीं करूंगा। एक पत्नीव्रत की महत्ता नवयुवकों, मुख्यतया भारत के नवयुवकों के हृदय-पटल पर अङ्कित होजाय इसके लिए उन्हें भिन्न २ देशों के स्त्री-पुरुषों की संख्या में निहित कुदरत के नियमों का सूक्ष्म विवेचन करना चाहिए। एक विद्वान् ने कुदरती उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक पुरुष को एक ही विवाह करने, एक ही स्त्री रखने की ईश्वराज्ञा है। उस विद्वान् ने समस्त संसार की नर-नारियों की संख्या से यह हिसाब लगाया है कि संसार में जितने पुरुष हैं प्रायः उतनी ही स्त्रियाँ हैं। स्त्री और पुरुषों की संख्या प्रायः बराबर है। इस हिसाब से लड़के और लड़कियाँ भी बराबर ही हैं। यूरोप और अमेरिका आदि जितने सफ़ेद चमड़ी वाले देश हैं उनमें प्रति १०० पुरुषों के मुक़ाबले में १०१ स्त्रियाँ हैं। अमेरिका के हब्शियों में भी स्त्री-पुरुषों की यही संख्या है। जापान में प्रति १०२ पुरुषों के मुक़ाबले में १०० स्त्रियाँ हैं। भारतवर्ष में कुछ विशेषता है जो ध्यान में रखने योग्य है। यहाँ १०४ पुरुषों के मुक़ाबले में १०० स्त्रियाँ हैं। अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कम हैं। अतः एक पुरुष को एक स्त्री से अधिक सम्बन्ध करना अन्याय है, ईश्वराज्ञा और कुदरत के नियमों का उल्लंघन है। इस कुदरती नियम के विवेचन से वेद की इस आज्ञा की, कि पुरुष को एक-पत्नीव्रत का पालन करना चाहिए भली प्रकार पुष्टि होती है और इस व्रत का पालन आवश्यक ठहराया जाता है।

पांचवीं जरूरी बात यह है कि उसे विवाह का उद्देश्य समझ लेना चाहिए। विवाह का उद्देश्य जैसा कि पूर्व अध्याय में बताया जा चुका है उत्तम सन्तान पैदा करना है।

महाभारत में एक आख्यायिका है। जब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह करके सन्तान पैदा करनी चाही तो पति और पत्नी दोनों ने निरन्तर १२ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्यपूर्वक अपने को योग्य सन्तान पैदा करने के योग्य बनाया। इसके बाद सन्तान पैदा की। इसी का फल था कि प्रद्युम्न जैसा तेजस्वी पुत्र पैदा हुआ जिसको स्वयं कृष्ण ने सनत्कुमार के समान तेजस्वी प्रकट करते हुए अपना पुत्र कहा है। उत्तम सन्तान के प्रत्येक इच्छुक गृहस्थ के लिए यह आख्यायिका अनुकरण करने योग्य है।

अंतिम छठी बात नवयुवकों को यह हृदयङ्गम करलेनी चाहिए कि घर का समस्त कोष, धन इत्यादि पत्नी के अधिकार में रहेगा और वह सिर्फ़ निरीक्षण रक्खेगा जिससे उसका अपव्यय न होने पावे।

सरांश यह है कि उपर्युक्त योग्यताओं को धारण करके ही नवयुवकों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।

लड़की की योग्यता

कन्या को भी कम से कम १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य्य के नियमों का पालन करते हुए अध्ययन करके अपने को योग्य बनाना चाहिए। गृह कार्य्य में कुशलता, सीने-पिरोने आदि में दक्षता, सन्तान के पालन-पोषण इत्यादि में सिद्धहस्तता प्राप्त करके ही कन्या को गृहास्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिए। पतिव्रत धर्म के पालन में दृढ़ सङ्कल्प होना चाहिए और किसी दशा में भी पर-पुरुषों को पति का स्थान नहीं देना चाहिए।

कन्या को विवाह की स्वीकृति देने से पूर्व अपने से निम्न प्रश्न कर लेने चाहिएं और इन प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त कर लेने पर ही स्वीकृति देनी चाहिए।

प्रश्न

(१) क्या मेरा वास्तविक प्रेम है ?

(२) यदि वास्तविक प्रेम है तो क्या मैं शारीरिक, सामाजिक और नैतिक दृष्टि से विवाह के योग्य हूँ।

(३) क्या मेरे कुल में कोई खान्दानी रोग है, जिसकी वजह से विवाह भयपूर्ण हो जायगा ?

(४) क्या मुझ में पति को प्रसन्न रखने और गृहस्थ के सञ्चालन की क्षमता है ?

(५) क्या मेरा भावी पति अच्छा पवित्र तथा मेरे प्रेम का अधिकारी है ?

(६) क्या वह शिक्षा, कुल, गुण, कर्म और स्वभाव की दृष्टि से मेरे समान है ?

(७) क्या हम दोनों की आयु में उचित अन्तर है ?

(८) क्या बच्चों के ठीक २ पालन की मैंने शिक्षा प्राप्त करली है ?

(९) क्या मैंने गृहस्थ की ज़िम्मेवारियों और अधिकारों को पढ़ और समझ लिया है ?

ऐसे ही प्रश्न लड़के को भी अपने से करने चाहिएँ।

अनमेल विवाह

शास्त्रों का मत है कि भले ही कन्या पिता के घर में मृत्यु-पर्यन्त अविवाहित बैठी रहे परन्तु अयोग्य पुरुष के साथ वह विवाह कभी न करे। जो पुरुष धन के लोभ से अयोग्य पुरुषों के साथ अपनी कन्याओं का विवाह कर देते हैं उनके लिए एक पुराण में बड़ी कठोर बात लिखी है।

कन्यां यच्छति वृद्धाय नीचाय धनलिप्सया ।
कुरूपाय, कुशीलाय स प्रेतो जायते नरः ॥ (स्कन्दपुराण)

अर्थात्—जो पुरुष धन की लालसा से किसी नीच, कुरूप और निकम्मे पुरुष के साथ कन्या का विवाह कर देते हैं, ऐसे पुरुषों की संज्ञा 'प्रेत' होजाती है। उसका भाव यह है कि अनमेल विवाह हानिकारक है।

दो भेद

आज हमें अनमेल विवाहों के दो मोटे २ भेद देख पड़ते हैं। एक भेद आयु का है और दूसरा योग्यता का है। आयु की दृष्टि से अनमेल विवाह जितने घृणित होते हैं योग्यता अर्थात् गुण, कर्म, स्वभाव, विद्या, रूप, बल और शील इत्यादि की दृष्टि से अनमेल विवाह उतने ही बुरे होते हैं। छोटे २ बच्चों या बच्चियों की जवान लड़कियों और लड़कों के साथ शादी, शादी नहीं वरन् गमी है। इस प्रकार के विवाहों का हमारी नस्ल और हमारे समाज पर बहुत बुरा असर पड़ता है। हमारी वे कलियाँ जो कभी खिलकर किसी उद्यान की शोभा को बढ़ातीं और उसे सुवासित करतीं, निर्दयतापूर्वक कुचल दी जाती हैं। हमारे समाज में जहाँ सदाचार, सुख और शान्ति में वृद्धि होती वहाँ व्यभिचार दुःख और अशान्ति की लपटें समाज के सदाचार और शान्ति को भस्मसात् कर देती हैं। ओह ! हम अपनी सुकुमार बच्चियों के बलात् वैधव्य से, उनके खून के आँसुओं से, कलङ्क कलिमा से पाप के पर्वत खड़े करते हैं। जब इस पाप के प्रतिकार के एक उपाय के रूप में विधवा-विवाह का प्रश्न हमारे सामने आता है तो हम 'धर्म डूब जायगा, नाक कट जायगी' इस मिथ्या और पतनकारी भावना की आड़ में उस पाप को और भी गाढ़ा बना देने का अपराध कर बैठते हैं। यह अपराध उस समय सीमा का अतिक्रमण कर जाता है जब वे विधवाएँ विधर्मियों की शरण ले लेती हैं।

विधवा-विवाह

आवश्यकता इस बात की है कि 'विधवा-विवाह' को व्यक्ति और समाज की रक्षा के लिए आपद्-धर्म्म के रूप में अनिवार्य्य समझा और उसको प्रोत्साहित किया जाय। इस हितकारी प्रथा का कतिपय प्रतिबन्धों के साथ न केवल वेदादि सत्शास्त्रों में वरन् पुराणों में भी समर्थन किया गया है। पद्म-पुराण में एक जगह आता है कि प्लक्षद्वीप के राजा दिवोदास ने अपनी कन्या विद्यादेवी का विवाह रूपदेश के राजा चतुर्सेन से किया था। उसका पति मर गया, उस समय के विद्वान् पण्डितों ने राजा को सलाह दी कि लड़की का पुनर्विवाह कर देना चाहिए। (देखो श्लोक ५९, ६०, ६१)

राजा ने विवाह कर दिया, परन्तु फिर भी पति मर गया। इस प्रकार उस लड़की का २१ बार पुनर्विवाह हुआ।

गुण, कर्म, शील, स्वभाव, विद्या इत्यादि की दृष्टि से अनमेल विवाहों के दुष्परिणाम भी कम नहीं हैं। उन दुष्परिणामों को यदि एक शब्द में कहना हो तो हम कहेंगे कि इनसे जहाँ गृहस्थ जीवन का सुख नष्ट हो जाता है वहाँ 'विवाह' से भी लोगों को घृणा हो जाती है। इसलिए विद्या, रूप, बल, गुण, कर्म और स्वभाव की समता से ही विवाह होने चाहिएँ, इसी में सुख है और इसी में विवाह और गार्हस्थ-जीवन का महत्त्व है।

पश्चिम का उदाहरण

यूरोप और अमेरिका इत्यादि पश्चिम के देशों में ५०-५०, ६०-६० वा इससे भी अधिक उम्र में होने वाले स्त्री पुरुषों के विवाहों

---

१ "विवाहं तु विधानेन पिता कुर्य्यान्न संशयः"।

२ "एकविंशतिभर्तारः काले काले मृतास्तथा"।

को उदाहरण के रूप में हमारे सामने रखकर कदाचित् वृद्ध-विवाह की बात मानने को हमसे कहा जाय। इंग्लैण्ड का शायद क़ानून भी हमारे सामने रक्खा जाय जो ८० वा ९० वर्ष के बूढ़ों के सन्तानोत्पत्ति पर भी प्रतिबन्ध नहीं लगाता है। इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि विवाह का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति है, पाशविक इच्छाओं की सन्तुष्टि नहीं है। यतः उपर्युक्त विवाहों के मूल में पाशविक इच्छा की सन्तुष्टि ही प्रधान होती है, सन्तानोत्पत्ति की नहीं इसलिए हम उन वृद्ध-विवाहों की बात नहीं मान सकते हैं। भारतवर्ष में लोगों की प्राकृतिक और आर्थिक स्थिति पश्चिम के लोगों की इन स्थितियों के मुक़ाबले में अच्छी नहीं है और हमारा विवाह का दृष्टिकोण पश्चिम के लोगों के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है ऐसी सूरत में भारत में वृद्ध-विवाह की बात को हम कदापि नहीं मान सकते हैं।

विवाह सम्बन्धी कतिपय कुप्रथाएं।

हमारे यहां विवाह सम्बन्धी बहुत सी कुप्रथाएं प्रचलित हैं। उनमें वर-विक्रय और अमर्यादित दहेज की कु-प्रथाएं सब से अधिक हानिकारक हैं। कहीं माता-पिता वर-पक्ष से रुपया लेकर कन्या का विवाह करते हैं, कहीं वर-पक्ष वाले कन्या-पक्ष से 'दहेज' के रूप में रुपया लेकर लड़के का विवाह होने देते हैं। ये दोनों प्रथाएं अवैदिक हैं और अधिकांश रूप में हमारे मध्यम वर्ग से सम्बन्धित हैं।

अमर्य्यादित दहेज।

अमर्य्यादित दहेज के कुफल छुपे नहीं हैं। वे प्रायः सब पर स्पष्ट हैं। इस प्रथा के कारण हमारी बहनों के जीवन बर्बाद हो जाते हैं। बहुतों के मातृ-कुल में और बहुतों के पति-कुल में। बहुत सी बहनें विवाह की अवस्था को पार करके पिता के घर में चिरकाल पर्य्यन्त अविवाहित बैठी रहती हैं और पिता पर अनुचित और

२

अवांछनीय भार बनी रहती हैं, इसलिये कि माता-पिता विवाह के बाज़ार में ऊंची बोली लगाने में असमर्थ होते हैं। बहुत सी आजीवन कौमार्य्य जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य रहती हैं और जो गृहस्थ और समाज का आभूषण होतीं, वे समाज का कलङ्क बनादी जाती हैं। बहुत सी अपने सुकुमार जीवन का अन्त करके अपने माता-पिता के भार को हलका कर देतीं हैं और इस प्रथा की भयङ्करता के प्रति हमारे नेत्र खोल देती हैं। बहुत सी कुपथ-गामिनी होकर हमारे निर्दयी समाज की छाती पर मूँग दलती रहती हैं। बहुत सी विधर्मियों की शरण में जाकर हमारे पापी समाज से उसके पापों का बदला लेने का सामान इकट्ठा कर देती हैं। बहुत सी बहिनें पति-कुल में दुःख, अपमान और निराशा का जीवन व्यतीत करती रहती हैं। बहुत सी जीवन की मुसीबतों और कष्टों से तङ्ग आकर और सब ओर से निरुपाय होकर अपने जीवन का अन्त कर देती हैं वा विधर्मियों के चङ्गुल में फँस जातीं या बाज़ार में बैठ जाती हैं। इन प्रथाओं का जितनी जल्दी अन्त हो उतना ही अच्छा। 'दहेज' की कु-प्रथा के सम्बन्ध में महात्मा गाँधी के विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इस प्रथा के मूल, दुष्परिणामों और निराकरण के सम्बन्ध में 'हरिजन' में लिखते हुए वे निम्न प्रकार प्रकाश डालते हैं:—

"कुछ महीने हुए कि स्टेट्समैन ने दहेज़ पर चर्चा छेड़ी थी। यह प्रथा क़रीब-क़रीब हिन्दुस्तान भर में अनेक जातियों में प्रचलित है। 'स्टेट्समैन' के सम्पादक ने भी इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये थे। 'यङ्ग-इन्डिया' में मैं अक्सर इस निर्दय प्रथा पर लिखा करता था। उन दिनों इस रिवाज़ के बारे में जो-जो निर्दयतापूर्ण बातें मुझे मालूम हुआ करती थीं उनके स्मरण 'स्टेट्समैन' के इन लेखों ने फिर से ताज़े कर दिये हैं। सिन्ध में जिस प्रथा को 'देती लेती' कहते हैं, मैंने इसी को लक्ष्य में रख कर 'यङ्ग-इन्डिया' में लेख लिखे थे। ऐसे काफ़ी

सुशिक्षित सिन्धी थे जो लड़कियों की शादी के लिये फ़िक्रमन्द माता-पिताओं से बड़ी-बड़ी रक़में एंठते थे। पर 'स्टेट्स्मैन' ने तो इस प्रथा के ख़िलाफ़ एक आम लड़ाई छेड़ दी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक हृदयहीन रिवाज़ है। मगर जहां तक मैं जानता हूं, जन-साधारण से जो करोड़ों की संख्या में हैं, इसका कोई सम्बन्ध नहीं। मध्यम वर्ग के लोगों में ही यह रिवाज पाया जाता है, जो भारत के विशाल जन-समुद्र में बिन्दु मात्र हैं। बुरे-बुरे रिवाजों के बारे में जब हम बात करते हैं तब साधारणतः मध्यम वर्ग के लोग ही हमारे ध्यान में होते हैं। गांवों में रहने वाले करोड़ों लोगों के रिवाजों और तकलीफ़ों के बारे में हम अभी जानते ही क्या हैं?

फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि चूँकि दहेज की कुप्रथा हिन्दुस्तान में बहुत अल्पसंख्यक लोगों तक सीमित है इसलिए हम उस पर ध्यान न दें। प्रथा तो यह नष्ट होनी ही चाहिये। दहेज प्रथा का जात-पांत के साथ बहुत नज़दीकी सम्बन्ध है। जब तक किसी ख़ास जात के कुछ सौ नवयुवकों या नवयुवतियों तक वर या कन्या की पसन्दगी मर्यादित है, तब तक यह कु-प्रथा जारी ही रहेगा, भले ही उसके ख़िलाफ़ दुनिया भर की बातें कही जांय। इस बुराई को अगर जड़मूल से उखाड़ कर फेंक देना है तो लड़कियों या लड़कों या उनके माता-पिताओं को ये जात-पांत के बन्धन तोड़ने ही होंगे। विवाह जो अभी छोटी छोटी उम्र में होते हैं उसमें भी हमें फेर-फार करना होगा और अगर ज़रूरी हो, याने ठीक वर न मिले, तो लड़कियों में यह हिम्मत होनी चाहिए कि वे क्वांरी ही रहें। इस सब का अर्थ यह हुआ कि ऐसी शिक्षा दी जाय जो राष्ट्र के युवकों और युवतियों की मनोवृत्ति में क्रान्ति पैदा करदे। यह हमारा दुर्भाग्य है कि जिस ढंग की शिक्षा हमारे देश में आज दी जाती है उसका हमारी परिस्थितियों से कोई सम्बन्ध नहीं और इससे होता यह है कि राष्ट्र के मुट्ठीभर लड़कों और लड़कियों को जो शिक्षा मिलती है उससे हमारी

परिस्थितियां अछूती ही रहजाती हैं। इस बुराई को कम करने के लिये जो भी किया जा सके वह ज़रूर किया जाय, पर यह साफ़ है कि यह तथा दूसरी अनेक बुराइयां तभी, मेरी समझ में, सर की जासकती है जब कि देश की हालतों के मुताबिक, जो तेज़ी से बदलती जा रही हैं, लड़कों और लड़कियों को तालीम दी जाय। यह कैसे हो सकता है कि इतने तमाम लड़के लड़कियां जो कॉलिजों तक में शिक्षा हासिल कर चुके हों, एक ऐसी बुरी प्रथा का जिसका कि उनके भविष्य पर उतना ही असर पड़ता है जितना कि शादी का, सामना न कर सकें या करना न चाहें? पढ़ी-लिखी लड़कियाँ क्यों आत्महत्या करें—इसलिये कि उन्हें योग्य वर नहीं मिलते? उनकी शिक्षा का मूल्य ही क्या, अगर वह उनके अन्दर एक ऐसे रिवाज़ को ठुकरा देने की हिम्मत पैदा नहीं कर सकतीं, जिसका कि किसी भी तरह पक्ष-समर्थन नहीं किया जा सकता और जो मनुष्य की नैतिक भावना के बिलकुल विरुद्ध है? जवाब साफ़ है। शिक्षा-पद्धति के मूल में ही कोई ग़लती है जिससे कि लड़कियां और लड़के सामाजिक या दूसरी बुराइयों के ख़िलाफ़ लड़ने की हिम्मत नहीं दिखा सकते। मूल्य या महत्त्व तो उसी शिक्षा का है जो मानव-जीवन की हर तरह की समस्याओं को ठीक-ठीक हल कर सकने के लिये विद्यार्थी के मस्तिष्क को विकसित करदे।"

विवाह के सम्बन्ध में एक कु-प्रथा अन्धाधुन्ध व्यय करने की है। इसके लिये चाहे कर्ज़दार बनना पड़े, घर-बार बेचना पड़े परन्तु विवाह में यदि 'शान-शौक़त' का इज़हार न हुआ तो मानो सब कुछ मिट्टी में मिल गया। यह मनोवृत्ति हिन्दुओं की बर्बादी के अनेक कारणों में से एक है। वर और कन्या दोनों पक्षों की प्रायः एक जैसी ही मनोवृत्ति बनी हुई है। अधिक व्यय करने के लिये कन्या-पक्ष को तो प्रायः मजबूर-सा किया भी जाता है। इस मजबूरी के रूप 'फल-दान', 'लगन', 'मिलनी' बारात का अनुचित

सत्कार इत्यादि हैं। ये सारी बातें निर्दयता से नष्ट कर देने योग्य हैं। विवाह की केवल एक ही रस्म रह जानी चाहिये और वह 'विवाह-संस्कार' है जिसमें भाग लेने वाले १०-१२ स्त्री-पुरुषों से अधिक नहीं होने चाहिये। कोई वजह नहीं कि क्यों कन्या-पक्ष वालों को मजबूर किया जाय कि वे तीन-तीन चार-चार दिन, हफ़्तों और महीनों तक बारात का आतिथ्य करें।

तीसरे पहर वर-पक्ष के कुछ स्त्री-पुरुष कन्या के घर पहुँचने चाहिएँ। ५ से ९ बजे तक विवाह करके उन्हें रात्रि में कन्या-पक्ष का आतिथ्य ग्रहण करना चाहिए और प्रातःकाल उठकर अपने घर चले आना चाहिए। सब से अच्छा और आदर्श विवाह वह कहा जा सकता है कि वर और कन्या दोनों पक्षों के स्त्री-पुरुष आर्य्य-मन्दिर में चले जावें और वहाँ विवाह-संस्कार होकर दोनों पक्ष वाले अपने २ घर चले जावें। प्रत्येक दशा में विवाह-संस्कार अत्यन्त सादगी के साथ होना चाहिए और किसी दशा में भी ५०, ६०) रु० से अधिक व्यय नहीं होना चाहिए। जो धन विवाह सम्बन्धी कुप्रथाओं में ख़र्च होता है वह पुत्र और पुत्रियों के अच्छे शिक्षण में ख़र्च होना चाहिए। दुःख है जो भाई 'वैदिक रीति' से भी विवाह करते हैं, उनमें से अधिकांश ने विवाह को महंगा बना रहने दिया है। इसका कारण यह है कि विवाह के साथ जो अनेक व्यर्थ विवाह के 'लवाज़िमों' के तौर पर पौराणिक पद्धति के अनुसार किए जाते हैं वे सब ज्यों-के-त्यों वैदिक पद्धति वालों ने भी अपना रखे हैं। उन 'लवाजिमों' से हाथ खींचना चाहिए और सम्पन्न लोगों को अपने ग़रीब भाइयों के सामने इस सम्बन्ध में आदर्श उपस्थित करते रहना चाहिए।

विवाह कब होना चाहिए ?

विवाह करने के लिए उत्तरायण शुक्ल पक्ष अच्छा समझा जाता है। परन्तु आवश्यकतानुसार वर्ष में किसी समय विवाह किया जा

सकता है। विवाह के दो योग हैं। पूर्व-विधि और उत्तर-विधि। पहली विधि में सूर्य्यावलोकन है और दूसरी में ध्रुव और अरुन्धति तारों के देखने का विधान है। पूर्वविधि सन्ध्या समय होने तक समाप्त हो जावे। उसके बाद सन्ध्या आदि से निवृत्त होकर कुछ विश्राम करके तब उत्तर-विधि शुरू करनी चाहिए जिससे ९ बजे वह समाप्त हो जावे।

विवाह की प्रतिज्ञाएँ

गृहस्थाश्रम की अच्छाई का रहस्य पति और पत्नी दोनों की पारस्परिक प्रसन्नता में निहित हैं अतएव दोनों को विवाह से पूर्व और विवाह के उपरान्त एक दूसरे को प्रसन्न रखने की मनोवृत्ति रखनी चाहिए। यदि वे दोनों इस मनोवृत्ति को सामने रखते हुए आचरण करें तो कोई कारण नहीं कि वे प्रसन्न न रह सकें। गृहस्थाश्रम की यही मर्य्यादा है। इस मर्य्यादा की रक्षा के लिए वे दोनों विवाह के समय कतिपय प्रतिज्ञाएँ करते हैं। वे प्रतिज्ञाएँ इस प्रकार हैं:—

पहली प्रतिज्ञा।

ओं समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समु देष्ट्री दधातु नौ॥

अर्थात्—हे सभा में उपस्थित विद्वानो! आप निश्चय करके जानें कि हम दोनों के हृदय जल के समान परस्पर मिले हुए हैं। हम प्राण वायु की तरह समता रक्खेंगे। जगत् के धारणकर्त्ता परमात्मा की तरह एक दूसरे को धारण करेंगे। उपदेशक जैसे श्रोताओं से प्रीति रखता है वैसे ही हम एक दूसरे से दृढ़ प्रेम धारण करेंगे।

स्पष्ट है कि वर और वधू दोनों एक दूसरे के साथ प्रेममय व्यवहार रखने की प्रतिज्ञा करते हैं। यही बात अब पश्चिम के

विद्वानों ने भी स्वीकार करली है। डाक्टर मैगनस हिर्शफ़ील्ड (Dr. Magnus Hirsh Field) ने एक जगह इस प्रकार लिखा है:—

Happy marriages are not made in heavens but in the laboratory. Both the man and woman should be carefully examined not only with regard to their fitness to marry but whether they are fit to merry each other.

अर्थात्--सुखी विवाह स्वर्ग में नहीं किन्तु रसायनशालाओं में होते हैं। पुरुष और स्त्री की वहाँ जाँच होनी चाहिए, न केवल इस सम्बन्ध में कि वे विवाह के योग्य हैं अपितु इस सम्बन्ध में भी कि वे दोनों एक दूसरे को प्रसन्न रखने की योग्यता भी रखते हैं या नहीं।

दूसरी प्रतिज्ञा।

ओं ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः ।
मया पत्या प्रजावति शं जीव शरदः शतम् ॥

अर्थात् (वर वधू से कहता है)—महान् प्रभु ने तुझको मुझे दिया है। यह मेरी पोषण करने योग्य पत्नी हो। हे वधू! तू मुझ पति के साथ १०० वर्ष पर्य्यन्त सुखपूर्वक जीवन धारण कर।

इस प्रतिज्ञा में पति पत्नी के भरण-पोषण की प्रतिज्ञा करता है।

तीसरी प्रतिज्ञा।

ओं अमोऽहमस्मि सा त्व९ꣳ सा त्वमस्यमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेव विवहावहै सह रेतो दधावहै। प्रजां प्रजनयावहै पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शत९ꣳ शृणुयाम शरदः शतम्।

पार० कां० १। कं० ६। ३॥

इस मन्त्र द्वारा वर वधू से प्रतिज्ञा करता है। हे वधू! जैसे मैं ज्ञानपूर्वक तेरा ग्रहण करने वाला होता हूँ वैसे ही तू भी मेरा ग्रहण करने वाली है। मैं तुझे ग्रहण करता हूँ, तू मुझे ग्रहण करती है। मैं सामवेद के तुल्य हूँ, तू ऋग्वेद के तुल्य है। तू पृथ्वी के समान ग्रहण करने वाली है, मैं वर्षा करने वाले सूर्य्य के समान हूँ। दोनों ही प्रसन्नतापूर्वक विवाह करें। साथ मिल कर वीर्य्य धारण करें। उत्तम सन्तान उत्पन्न कर बहुत पुत्रों को प्राप्त होवें। वे पुत्र जरा-अवस्था के अन्त तक जीवन युक्त रहें। अच्छे प्रकार एक दूसरे से प्रसन्न, एक दूसरे में रुचि युक्त, अच्छे विचार रखते हुए सौ वर्ष तक एक दूसरे को देखें, सौ वर्ष पर्य्यन्त जीवें, सौ वर्ष तक सुनते रहें।

चौथी प्रतिज्ञा।

ओं अर्यमणं देवं कन्या अग्निमयक्षत।
स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा॥
इदमर्यम्णे अग्नये इदं न मम॥ १॥ पार० कां० १। कं० ६

अर्थात्–कन्याएँ न्यायकारी प्रकाशमान् ईश्वर की पूजा करती हैं। वह न्यायकारी परमात्मा हमको इस पितृ-कुल से छुड़ावे और पति-कुल से न छुड़ावे।

अर्थात्—कन्या लाजा होम करती हुई पतिकुल से पृथक् न होने की प्रतिज्ञा करती है। यह वैदिक विवाह के अटूट होने का प्रमाण है। इसी प्रकार ऋग्वेद का मंत्र है जिसमें इसी प्रकार पति-कुल न छोड़ने की बात पति की ओर से कही गई है।

ओं प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या दधामि॥ १॥
ओं प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥ २॥
ऋ० म० १०। सू० ८५। मं० २४। २५

पति एकान्त में वधू को धैर्य देते हुए इस मन्त्र का पाठ करता है जिससे पति को आज्ञा की गई है कि हे ऐश्वर्यवाले विवाहित पुरुष ! जिस प्रकार यह वधू सौभाग्यवती और अच्छे पुत्रों वाली हो वैसा यत्न करे और कन्या से कहे—हे वधू ! इस पितृ-कुल से तुझे छुड़ाता हूँ, उस पति के कुल से नहीं। क्योंकि इस पति-कुल के साथ तुझे अच्छे प्रकार सम्बद्ध कर चुका हूँ।

पांचवीं प्रतिज्ञा।

सप्तपदी की क्रिया द्वारा वर और वधू ७ बातों की प्रतिज्ञा करते हैं जिनका विवरण इस प्रकार है :—

ओं इष एकपदी भव सा मामनुव्रता भव विष्णुस्त्वानयतु पुत्रान् विन्दावहै बहूँस्ते सन्तु जरदष्टयः ॥ १ ॥

अर्थात्—हे कन्ये ! पुत्र के लिए तू एक पग चलने वाली हो। वह तू मेरे अनुकूल व्रत वाली हो। (इस अनुकूलता प्राप्ति के लिए) सर्वव्यापक प्रभु तुझे अच्छे प्रकार प्राप्त करें अर्थात् तेरे सहायक हों। हम तुम दोनों मिलकर वहुत से पुत्रों को प्राप्त करें और वे पुत्र वृद्धावस्था पर्य्यन्त जीने वाले हों।

ओं ऊर्जे द्विपदी भव० ॥ २ ॥

अर्थात्—(ऊर्जे) वल सम्पादन के लिए तू दो पग चलने वाली हो (शेष पूर्ववत्)

ओं रायस्पोषाय त्रिपदी भव० ॥ ३ ॥

अर्थात्—धन और ऐश्वर्य की रक्षा के लिए तू तीन पग चलने वाली हो (शेष पूर्ववत)

ओं मायोभव्याय चतुष्पदी भव ॥ ४ ॥

अर्थात्—सुखोत्पत्ति के लिए तू चार पग चलने वाली हो (शेष पूर्ववत्)

ओं प्रजाभ्यः पंचपदी भव० ॥ ५ ॥

अर्थात्—सन्तान (उत्पन्न और पालन पोषण करने) के लिए पांच पग चलने वाली हो (शेष पूर्ववत)

ओं ऋतुभ्यः षट्पदी भव० ॥ ६ ॥

अर्थात्–ऋतुओं को अनुकूल बनाने के लिए ६ पग चलनें वाली हो (शेष पूर्ववत्)

ओं सखा सप्तपदी भव० ॥ ७ ॥

अर्थात् यह हेतुगर्भ सम्बोधन है। हे प्रिये (वधू) मित्रता सम्पादन के लिए तू ७ पग चलने वाली हो। (शेष पूर्ववत्)

गृहस्थाश्रम के कार्य्यों को पूरा करने के लिए ७ बातों की जरूरत हुआ करती है। अर्थात् अन्न, बल, धन, सुख और शान्ति सन्तान, ऋतुओं की अनुकूलता और दम्पति में मित्र-भावना। इन्हीं की प्राप्ति के लिए वर-वधू प्रतिज्ञा करते हैं। इनकी प्राप्ति के लिए चलने का अर्थ पुरुषार्थ करना है। अर्थान् प्रतिज्ञा का भाव यह है कि गृहस्थ जीवन पुरुषार्थ का जीवन होगा और वह पुरुषार्थ मुख्यतया उपर्युक्त ७ वस्तुओं की प्राप्ति में व्यय होगा। इन ७ पदार्थों का जो क्रम उपर्युक्त वाक्यों में रक्खा गया है उसके भीतर यह भाव भी निहित प्रतीत होता है कि पहले की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसी प्रकार अन्तिम सातवां सबसे अधिक पुरुषार्थ की अपेक्षा रखता है। इसीलिए उसके वास्ते ७ पग चलने अर्थात् सबसे अधिक चिन्ता रखने की जरूरत प्रकट की गई है।

छठी प्रतिज्ञा।

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु।
मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥

अर्थात्—तेरे हृदय को अपने व्रत कर्म की अनुकूलता में धारण करता हूँ। मेरे चित्त के अनुकूल तेरा चित्त हो, मेरी बात को तू ध्यान लगा कर सेवन कर। प्रजापति परमेश्वर तुझ को मेरे लिये नियुक्त करे। इस प्रतिज्ञा को वर और वधू एक दूसरे को सम्बोधन करते हुए एक दूसरे से कहते हैं। वास्तव में जब तक पति और पत्नी एक दूसरे के अनुकूल और एक दूसरे के वश में रहने वाले न हों तब तक कोई भी गृहस्थ सद्-गृहस्थ नहीं बन सकता। गृहस्थाश्रम को सुखमय बनाने के उद्देश्य ही से यह प्रतिज्ञा की जाती है।

सातवीं प्रतिज्ञा।

यह प्रतिज्ञा वर वधू से कराता है:—

ओं लेखा सन्धिषु पक्ष्मस्वावर्त्तेषु च यानि ते। तानि ते पूर्णाहुत्या सर्वाणि शमयाम्यहं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै—इदं न मम ॥ १ ॥ ओं केशेषु यच्च पापकमीक्षिते रुदिते च यत्। तानि० ॥ २ ॥ ओं शीलेषु यच्च पापकं भाषिते हसिते च यत्। तानि० ॥ ३ ॥ ओं आरोकेषु दन्तेषु हस्तयोः पादयोश्च यत्। तानि० ॥ ४ ॥ ओं ऊर्वोरुपस्थे जङ्घयोः सन्धानेषु च यानि ते। तानि० ॥ ५ ॥ ओं यानि कानि च घोराणि सर्वाङ्गेषु तवाभवन्। पूर्णाहुतिभिराज्यस्य सर्वाणि तान्यशीशमं स्वाहा ॥ इदं कन्यायै—इदं न मम ॥ ६ ॥

अर्थात् (वर वधू से कहता है)—रेखा मस्तकादि की सन्धियों में नेत्रों के लोमों में और नाभि रन्ध्रादिकों में।

और जो बालों में, आँखों के सम्बन्ध में, चलने फिरने में जो पाप (रोग) होगा।

और जो स्वभाव, आदत में और जो बोलने तथा हँसने में त्रुटि होगी।

और जो दाँतों में और जो हाथ पांवों में रोग होगा।

जो जांघों, जननेन्द्रिय में रोग होगा और तेरे सब अङ्गों में जो कोई त्रुटि या रोग होगया होगा इस घृत की पूर्णाहुति के द्वारा उन सबके अन्त और दूर करने की प्रतिज्ञा कर चुका और करता हूँ। वर वधू से प्रतिज्ञा करता है कि पति-कुल में किस प्रकार रहे और वधू उपर्युक्त मन्त्रों का उच्चारण करके आहुति देने के द्वारा प्रतिज्ञा करती है।

आठवीं प्रतिज्ञा।

ओं ध्रुवमसि ध्रुवाहं पतिकुले भूयासम् (अमुष्य असौ)

गोभिल गृ० प्र० २ खं० ३। सू० ८॥

वर वधू को ध्रुव और अरुन्धति तारों को दिखलाता है। वधू इन तारों के दिखाने का अभिप्राय समझ कर उपर्युक्त प्रतिज्ञा करती है कि हे ध्रुव नक्षत्र! तू जैसा निश्चल है वैसे ही मैं पति-कुल में निश्चल होऊं।

हे अरुन्धति तारे! जैसे तू सप्तऋषि तारों के निकट सर्वदा रुका रहता है वैसे ही मैं भी पति-कुल में रुकी रहूँ।

यह प्रतिज्ञा भी स्थिर और अटूट विवाह का प्रदर्शन कराती है।

नवीं प्रतिज्ञा।

ओं यदेतद्-धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम।

यदिदᳪं हृदयम् मम तदस्तु हृदयं तव ॥१॥ मन्त्र ब्रा० १।३।८॥

अर्थात्—जो तेरा हृदय है वह मेरा हृदय हो और जो यह मेरा हृदय है वह तेरा हो।

दसवीं प्रतिज्ञा ।

ओं इह रन्तिः स्वाहा ॥ इदमिह रन्त्यै इदं न मम ॥
ओं इदं रमस्व स्वाहा ॥ इदमिह रमाय इदं न मम ॥
मन्त्र ब्रा० । १ । ६ । १४ गोभि० २४ । १० ॥

अर्थात्—यहाँ अनुराग बना रहे, यहाँ रमण किया करे । मुझ में धैर्य बना रहे । मुझ में रमण किया कर । मुझ में ही रमण किया कर ।

पति-पत्नी और घर वालों का दृष्टिकोण ।

गृहस्थ में प्रवेश करने पर पति-पत्नी तथा घर के अन्य लोगों का पारस्परिक व्यवहार का दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए, इस सम्बन्ध में जैसा उत्तम प्रकाश वेदों में देख पड़ता है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता है, अतः हम वेदों की शिक्षाओं को प्रस्तुत करते हैं ।

घरवालों का दृष्टिकोण ।

जब वधू घर में आए तब घरवालों का उसे यह आशीर्वाद होना चाहिए ।

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ ऋ० १० । ८५ । ४६ ॥

हे वधू ! तू श्वशुर के लिये सम्राज्ञी हो, सासु के लिए भी सम्राज्ञी हो, ननद के लिए भी सम्राज्ञी हो और देवर के लिए भी सम्राज्ञी हो ।

अर्थात्—गृहस्थ एक छोटा राज्य है । तू इस राज्य में प्रविष्ट हुई है । सास, श्वसुर, ननद इत्यादि सब तेरे अधीन होंगे ।

माता-पिता को गृहस्थ में उस समय तक रहना चाहिए जबतक ज्येष्ठ पुत्र का विवाह और उसके एक सन्तान न हो जाय। इसके बाद उन्हें दूसरे के राज्य में रहना पड़ता है या दूसरे आश्रम में चला जाना होता है।

मर्य्यादा का उल्लंघन।

दुःख है कि लोग उपर्युक्त मर्य्यादा का उल्लंघन करते हुए नियत आयु के बाद भी पुत्र, कलत्र और घर के मोह में फँसे हुए देख पड़ते हैं। फल यह है कि उन्होंने गृहस्थाश्रम में अनावश्यक भीड़ लगा रखी है और गृहस्थों पर अनावश्यक भार बने हुए अपना और समाज का अहित करते हुए अर्थ और काम के असमान बटवारे से समाज को अशान्ति का कारण बन रहे हैं।

पत्नी का दृष्टिकोण।

इस सम्बन्ध में वेदों में कहा गया है कि :—

ओं अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
ऋ० म० १० । ८५ । ४४ ॥

हे वधू! तू पति से विरोध न करने वाली, प्रिय दृष्टि वाली हो। पशुओं के लिए सुखदात्री, प्रसन्नचित्त, तेजस्वी वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली और देवर की कामना करने वाली होती हुई सुख युक्त हो, हमारे परिवार के लिए सुखदायी हो और पशुओं के लिए भी कल्याणकारिणी हो।

वधू का कर्त्तव्य है कि पति से मेल रखती हुई वीर पुत्रों को उत्पन्न करे और समस्त परिवार तथा पशुओं के लिए मङ्गलकारिणी हो।

एक स्थान पर वधू को सम्बोधन करके शिक्षा दी गई है कि तू प्रथम पति-कुल में विशेष रीति से सेवा करती है। तू इस घर में नये ऐश्वर्य्यों को देने वाली होकर ज्यों २ वर्ष व्यतीत होते जायँ त्यों २ घर को सुखों से भरती जाय। तुझे यह भी समझ लेना चाहिए कि पिता का जो घर है वह तुझसे छूटेगा परन्तु पति का तुझसे न छूटे। तू इस घर से पृथक् नहीं हो सकती है।

पति का दृष्टिकोण।

वेद में पति के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में कहा गया है कि:—जिस मान की दृष्टि से विद्वान् लोग 'सोम'* के चमसे को देखते हैं उसी मान की दृष्टि से पति को पत्नी को देखना चाहिए।

इन तीनों दृष्टिकोणों के सामंजस्यपूर्वक व्यवहार से गृहस्थ सुखधाम बना करते थे और अब भी बन सकते हैं। गृहस्थाश्रम जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है महान् ज़िम्मेवारी का आश्रम है। जो लोग उस ज़िम्मेवारी को समझकर उसमें प्रविष्ट होंगे निश्चय ही वे सुखी होंगे। क्यों बहुत से गृहस्थ ख़राब होते हैं? इसका कारण यही है कि उसमें लोग ज़िम्मेवारी को समझकर प्रविष्ट नहीं होते हैं।

गृहस्थाश्रम के सम्बन्ध में ये कतिपय प्रारम्भिक बातें बतलाई गई हैं। जिन नर-नारियों के जीवनों में ये बातें चरितार्थ हो रही हों वे धन्य हैं, जिनके जीवनों में चरितार्थ न हो रही हों उन्हें चरितार्थ करने का यत्न करना चाहिए।

---

* सोमरस—यूरोप वालों ने 'सोमरस' को शराब प्रगट किया है। यह उनकी बड़ी भूल है। सुश्रुत में लिखा है कि इसके सेवन से दाँत, शरीर इत्यादि सब नये हो जाया करते हैं।

दूसरा परिच्छेद

पिछले पृष्ठों में गृहस्थजीवन की कतिपय प्रारम्भिक बातें बतलाते हुए पति-पत्नी तथा गृहस्थ के अन्य लोगों के दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला गया है। अब स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है।

पति-पत्नी का पारस्परिक व्यवहार

पहिली शिक्षा

पति और पत्नी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वाक्य के उच्चारण से एक दूसरे को बाँधते हैं। वह वाक्य यह है:—

'मैं अपने व्रत में तेरे हृदय को धारण करता हूँ। मेरा मन तेरे मन के अनुकूल हो। मेरी बातों को ध्यान लगा कर सुन। प्रजापति परमेश्वर ने तेरे को मेरे लिये नियुक्त किया है।'

व्रत की महिमा।

इस वाक्य में प्रयुक्त हुआ 'व्रत' शब्द बड़े महत्व का है। व्रत का अर्थ भूखा रहना वा अनशन करना नहीं है। व्रत उस प्रतिज्ञा को कहते हैं जिसके द्वारा किसी निश्चय को कार्य्य में परिणत किया जाता है।

व्रत के भेद।

व्रत दो प्रकार का होता है। एक 'सामयिक' और दूसरा 'सम्मिलित' अर्थात् समस्त जगत् का।

सामयिक व्रत व्यक्तिगत धर्म्म से सम्बन्धित होता है, जैसे

'ब्रह्मचर्य्य' व्रत का पालन करना ब्रह्मचारी का धर्म्म है। सन्तानोत्पत्ति इत्यादि गृहस्थ-धर्म्म का पालन करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। इत्यादि २। इन व्रतों को सुविचारपूर्वक बनाना और मनोयोगपूर्वक निबाहना चाहिये।

'सम्मिलित व्रत' सामाजिक धैर्य्य से सम्बन्धित होता है। इस व्रत के सम्बन्ध में निम्न प्रकार बतलाया गया है:—

'हे प्रभु! आप व्रतों के अधिपति हैं। मैं व्रत करता हूँ कि 'सत्य' का पालन करूँ। आपकी कृपा से मैं उसे पूर्ण करने में समर्थ होऊँ, ऐसी आप कृपा कीजिये। इस प्रगटीकरण का भाव झूठ को छोड़ कर सत्य का आचरण स्वीकार करना है। जगत् के सब लोगों के भीतर सत्य के आचरण की ही इच्छा होनी चाहिए। यही 'सम्मिलित व्रत' है।

सत्य की महिमा

सत्य की बड़ी महिमा है। उपनिषदों में बतलाया गया है कि 'सत्य' ही 'धर्म्म' है। 'धर्म्म' ही 'सत्य' है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

व्रत-पालन का उपाय

जिस व्रत के पालन का निश्चय किया जाय उसका जी जान से पालन होना चाहिये। यदि व्रत की रक्षा में प्राण भी चले जायें तो भी परवाह नहीं करनी चाहिये। संसार में व्रत के धनी व्यक्तियों और जातियों का ही आदर होता है।

'मैं अपने व्रत में तेरे हृदय को रखता हूँ' अहा! इस वाक्य में गृहस्थ-धर्म्म का कैसा उत्कृष्ट व्रत है।

चित्त की एकाग्रता

'मेरा मन तेरे मन के अनुकूल हो। तू मेरी बात का ध्यान लगाकर श्रवण कर'। इस वाक्य में एक बड़ी सुन्दर शिक्षा निहित है। ध्यान लगा कर सुनी हुई बात में अद्भुत रस होता है। इस रस का स्रोत चित्त की एकाग्रता है, कोई पदार्थ या विषय नहीं है। इस मर्म को बिरले ही समझते हैं। संसार की प्रसन्नता के सम्बन्ध जिन विद्वानों और तत्त्वदर्शियों ने विचार किया है, उन्होंने एक मत से यह सही स्थापना की है कि 'प्रसन्नता' अच्छे २ सुस्वादिष्ट खाद्य पदार्थों में नहीं है, बढ़िया २ कपड़ों में नहीं है, संसार के किसी ऐश्वर्य्य, विलास और विहार में नहीं है, प्रसन्नता केवल चित्त की एकाग्रता में है। जिधर चित्त एकाग्र होजायगा उधर ही प्रसन्नता होगी। जिन व्यक्तियों ने संसार के विलास, वैभव और भोग में प्रसन्नता प्राप्ति की कोशिश की वे बुरी तरह असफल रहे। रोम साम्राज्य के विनाश का कारण उसके अन्तिम राजाओं का व्यसनी होना ही था। उनमें से एक राजा को बढ़िया और सु-स्वादिष्ट पदार्थों के खाने का बड़ा व्यसन था। उन पदार्थों के पर्य्याप्त सेवन से भी उसकी जिह्वा सन्तुष्ट नहीं होती थी। जब उसका पेट भर जाया करता था तो भी उसकी वासना खाने के लिये प्रबल बनी रहती थी, तब वह दवाइयों के द्वारा अपना पेट खाली कराके फिर उसे भर लिया करता था और यह सिलसिला जारी रहा करता था। निस्सन्देह इस प्रकार के व्यसनी राजा 'चित्त की एकाग्रता' के सुनहरी नियम की अवहेलना से ही रोम-साम्राज्य के विनाश का कारण बने।

इस शिक्षा के व्यवहार से स्त्री-पुरुष की पारस्परिक बातें प्रसन्नता देने वाली होती हैं। उनमें कलह हो ही नहीं सकता।

दूसरी शिक्षा

पति और पत्नी के नेत्र मधु के समान मीठे होने चाहिएँ अर्थात् दोनों को एक दूसरे के अवलोकन से नेत्रों में मिठास प्रतीत हो और वे इस रीति से अपने नेत्रों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करें। दोनों के हृदयों में एक दूसरे के लिये प्रेम रहे। इस शिक्षा का भाव यह है कि जब पति-पत्नी एक दूसरे को अपने हृदय में रखलेंगे तो उनमें कलह नहीं होगा।

पत्नी-व्रत

जिस प्रकार स्त्रियों का धर्म्म पतिव्रत धर्म्म का पालन करना है, उसी प्रकार पुरुषों का धर्म्म पत्नी-व्रत धर्म्म का पालन करना है। स्त्री पति से कहती है:—

अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥

अथर्व० ७। ३८। ४॥

अर्थात्—मैं कहती हूँ तू एकान्त में न बोल, वरन् सभा में निश्चयपूर्वक बोल। तू केवल मेरा ही होकर रह। अन्यों (स्त्रियों) का नाम तक न ले।

स्त्री को ऐसा कहने का अधिकार प्राप्त है। पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री का ध्यान भी न करे। 'मातृवत् परदारेषु' अर्थात् माता के समान परस्त्री को समझना चाहिए। यह आदर्श पति का मार्गप्रदर्शक होना चाहिए। इतिहास में पत्नी-व्रत के उत्तम उदाहरण विद्यमान हैं, उनसे हमें प्रकाश ग्रहण करना चाहिए। पति को इस सम्बन्ध में अपने मन को ऐसा दृढ़ कर लेना चाहिए कि किसी प्रलोभन के झोंके से वह विचलित न हो सके। वह प्रलोभन भले ही बड़े से बड़ा धन सम्बन्धी या काम

सम्बन्धी ही क्यों न हो। पति को इस सम्बन्ध में आदर्श की एक रेखा अपने सामने रखनी चाहिए और उस रेखा का उल्लंघन उस आदर्श का तिरस्कार या उससे विचलित होना समझना चाहिए और दृढ़तापूर्वक उस आदर्श को निबाहना चाहिए। जब कभी वह गिरने लगजाय तो इस आदर्श के द्वारा उसे अपने को सम्भाल लेना चाहिए। प्रायः पुरुष की इच्छा होती है और वह अपनी पत्नी से यह आशा रखता है कि वह पर-पुरुष की कामना तक न करे। इसी भांति स्त्री भी यह इच्छा कर सकती और आशा रखती है कि उसका पति भी पर-स्त्री की कामना न करे। एक दूसरे का ऐसा करना उचित और न्याययुक्त है। परन्तु स्वयं इस मर्य्यादा का उल्लंघन करके अपनी पत्नी से मर्य्यादा के पालन की इच्छा और आशा रखना पति की नितान्त मूर्खता और पत्नी के प्रति सरासर अन्याय है। हमारा इस कथन से यह अभिप्राय नहीं है कि पति के मर्य्यादा का उल्लंघन करने पर पत्नी को भी मर्य्यादा का उल्लंघन करने की खुली छुट्टी रहनी चाहिए। हमारा अभिप्राय यह है कि पति को पर-स्त्री-गामी होने और अपनी पत्नी के प्रति अन्याय करने का, यदि वह अपने प्रति अपनी पत्नी से न्याय की इच्छा रखता है, कोई अधिकार नहीं है।

अर्जुन का आदर्श

अर्जुन तप कर रहे थे। उनके तप से भयभीत होकर तपोभङ्ग के लिये इन्द्र ने अर्जुन के पास सुन्दरी अप्सरा को भेजा। अपने हाव-भाव इत्यादि से अर्जुन को विचलित न कर सकने पर, निराश होकर वह अर्जुन से बोली—'अर्जुन ! क्या तुम मुझे नहीं देख रहे हो ?' अर्जुन ने उत्तर दिया—'देवि ! मैं तुम्हें देख रहा हूँ ! देख रहा हूँ !! तुम मुझे कुन्ती के रूप में देख पड़ती हो। अहा ! कितना उत्तम आदर्श है ! जब मनुष्य में इस प्रकार के उत्तम भाव आजाया

करते हैं तब ही वह 'मातृवत् परदारेषु' की उज्ज्वल उक्ति को चरितार्थ किया करता है।

पतिदेव के पर स्त्री-गामी हो जाने वा दूसरा विवाह करलेने पर हमारी माताओं और बहनों ने त्याग, क्षमा और पतिनिष्ठा का जैसा श्रेष्ठ आदर्श उपस्थित किया है या वे इस समय उपस्थित कर रही हैं ऐसा आदर्श अन्यत्र ढूंढने पर भी नहीं मिलता है। भले ही लोग हमारी माताओं और बहनों के इस आचरण को उनकी मानसिक वा शारीरिक दासता कहें या उनकी हीनावस्था प्रगट करें, परन्तु यह उनकी दासता वा कमज़ोरी नहीं है वरन् उनकी वह शक्ति है जो पतितों को पवित्र करदेती है और जो ऐसे मातृत्व और स्त्रीत्व से प्रवाहित होती है जिसकी उपमा भारत से अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है—

अथर्ववेद में एक और स्थल पर पत्नी पति से कहती है :—

अभित्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्त्तयाश्चन ॥ अथ० ७। ३७। १ ॥

अर्थात्—विचारपूर्वक बनाए हुए अपने वस्त्र से मैं तुझे (प्रेम सूत्र में) बाँधती हूँ जिससे तू एकमात्र मेरा होकर रहे और अन्य स्त्रियों का नाम तक न ले।

दूसरों के साथ व्यवहार

गृहस्थ लोगों के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में हमारा इतिहास और हमारे धर्म्म ग्रन्थ उदात्त शिक्षाओं से ओतप्रोत हैं। अथर्ववेद में एक शिक्षा इस प्रकार है :—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो-अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व० ३। ३०। १ ॥

अर्थात्—हे गृहस्थो ! तुम्हारे लिये सहृदयता, मन की समता

और वैर-विरोध रहित व्यवहार नियत करता हूँ। जैसे गाय अपने नव-जात बछड़े को प्यार करती है इसी प्रकार तुम एक दूसरे से प्रेम-पूर्वक व्यवहार करो।

इस मन्त्र में एक दूसरे की रक्षा और आपस में प्रेम-पूर्वक व्यवहार करने की बहुत उत्तम शिक्षा दी गई है।

व्याख्या

'वैर-विरोध रहित व्यवहार नियत करता हूँ' इस वाक्य में एक दूसरे से द्वेष न करने की ओर सङ्केत किया गया है। द्वेष बड़ी बुरी चीज़ है। 'सन्ध्या' के 'मनसा-परिक्रमा' मन्त्रों में एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है। हम ईश्वर को जो दाएँ-बाएँ हर जगह मौजूद है नमस्कार करते हैं। इसलिए कि हमसे कोई द्वेष न करे, हम किसी से द्वेष न करें। मनुष्य के चरम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ईश्वर का सामीप्य प्राप्त करने के लिये द्वेषरहित होना एक आवश्यक साधन है। ईश्वर-प्राप्ति का स्थान हृदय-मन्दिर है। ईश्वर अशुद्ध हृदय में नहीं रह सकता, इसलिए ईश्वर के हृदय में धारण करने के लिये हृदय-मन्दिर का शुद्ध होना और इसके लिये अपने हृदय को द्वेष रहित रखना ज़रूरी है।

'एक दूसरे को ऐसे प्यार करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े को प्यार करती है, इस शिक्षा के आचरण से गृहस्थ के लोगों को प्रेम, सौख्य और शान्ति जैसी उज्ज्वल चीज़ों के अतिरिक्त वैर, विरोध, कलह और अशान्ति जैसी काली चीजों के दर्शन कदापि नहीं हो सकते।

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, भाई, बहिन इत्यादि का पारस्परिक व्यवहार

माता-पिता, भाई-बहिन इत्यादि का व्यवहार कौटुम्बिक व्यवहार

कहलाता है। इस व्यवहार के सम्बन्ध में 'वेद' में निम्न प्रकार शिक्षा दी गई है:—

> अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः
> जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्।
> मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा
> सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

अर्थात्—'पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो तथा स्त्री पति से मधुर और शान्त वाणी से बातचीत करे। भाई से भाई द्वेष न करे और न बहिन बहिन से ही ईर्ष्या करे। सब लोग अपनी २ मर्य्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्र भाषा से ही बातचीत करें, कैसा सुन्दर कौटुम्बिक व्यवहार है।

यदि इस शिक्षा के अनुसार भाई और बहिनों में आपस में प्रेम हो तो इस से बढ़कर उनका और कोई सौभाग्य नहीं हो सकता। पारस्परिक प्रेममय व्यवहार से बहुत से मनोमालिन्य और त्रुटियाँ अनायास ही तिरोहित हो जाया करते हैं।

भ्रातृप्रेम के कतिपय ऐतिहासिक उदाहरण

हमारे इतिहास में भ्रातृ-प्रेम के बहुत उत्तम उदाहरण मिलते हैं। उनसे हमें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। रामायण में भरत और लक्ष्मण के, राजपूताने के गौरवमय प्राचीन इतिहास में महाराणा प्रताप के भाई शक्तसिंह के भ्रातृ-प्रेम की कहानी को पढ़ और सुनकर श्रद्धा से हमारा मस्तक उनके चरणों में झुक जाता है।

महाराणा प्रताप का मुग़ल सम्राट् महान् अकबर के साथ उस समय तक युद्ध जारी रहा था जबतक उन्हों ने उदयपुर को स्वतन्त्र नहीं कर लिया था। दुर्भाग्य से उनमें और उनके भाई (शक्तसिंह)

में मनोमालिन्य हो गया। शक्तसिंह अकबर से जा मिला। शत्रु के भाई को अपने पक्ष में देख कर अकबर बहुत प्रसन्न हुआ और उस का बड़ा सम्मान किया। शक्तसिंह से सलाह करके अकबर ने महाराणा पर चढ़ाई की और शक्तसिंह भी युद्ध-क्षेत्र में गया। महाराणा उस युद्ध में हार गये और उनके एक स्वामिभक्त सेवक ने स्वयं महाराणा का वेष धारण करके उन्हें युद्ध-क्षेत्र से बाहर निकाल दिया। वह मालूम होने पर अकबर के सैनिकों ने महाराणा का पीछा किया और वे शक्तसिंह को भी अपने साथ ले गये जिस से वे अपने भाई (महाराणा प्रताप) को पहचान सके। सैनिकों ने महाराणा को पकड़ लिया और उन्हें मार डालना चाहा। शक्तसिंह से यह देखा न गया। उनका भ्रातृ-प्रेम उमड़ आया। उन्होंने तत्काल तलवार खींचली और उन दोनों सैनिकों को मार गिराया। महाराणा प्रताप अपने विरोधी भाई के इस व्यवहार पर मुग्ध हो गये। उनका हृदय भर आया। दोनों भाई गले मिले और दोनों का विरोध प्रेम-अश्रुओं में विलीन होगया।

इस शिक्षा का भाव यह है कि भाई और बहिनों के हृदयों में परस्पर में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होना चाहिये वरन् उनमें अत्यन्त प्रेम होना चाहिये। माता-पिता को शिक्षा और व्यवहार के द्वारा अपनी सन्तानों में इस प्रेम की रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए।

रामायण से स्पष्ट है कि माताएँ किस प्रकार इस सम्बन्ध में अपने दायित्व की पूर्ति किया करती थीं और अपने सन्तानों में प्रेम और सेवा के उत्कृष्ट भावों को भरा करती थीं।

राम-रावण युद्ध में लक्ष्मण घायल होगये थे। हनुमान् उनके लिये औषध ले जा रहे थे। मार्ग में भरत से उनकी भेंट हुई। हनुमान् से यह ज्ञात होने पर कि वे राम के प्रिय अनुचर हैं और लक्ष्मण के लिये औषध ले जा रहे हैं, भरत बड़े प्रसन्न हुए और

उन्हें माताओं के निकट ले गये। माताओं ने हनुमान् से राम, लक्ष्मण और सीता का हाल पूछा। जब वे कुछ देर ठहरने के बाद माताओं से आज्ञा माँगकर विदा होने लगे तब सुमित्रा और कौशल्या ने राम के लिए सन्देश दिये। वे सन्देश स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं।

सुमित्रा का सन्देश

"प्रिय राम! लक्ष्मण को माता-पिता ने वन जाने की आज्ञा नहीं दी थी। वह तुम्हारी सेवा के लिये ही तुम्हारे साथ वन को गया था। मैंने उसे कहा था कि तुम राम को दशरथ और सीता को मेरे स्थान पर समझना और उनकी माता-पिता के समान सेवा करना। सेवा में यदि तुम्हारे प्राणों की भी ज़रूरत पड़ जाय तो तुम सहर्ष उन्हें दे देना। जो ओषधि हनुमान् लेजा रहे हैं यदि उस से भी लक्ष्मण के प्राण न बचें और वह मर जाय तो तुम दुखी मत होना वरन् यह सोचकर खुश होना कि लक्ष्मण ने सेवक की उच्च से उच्च गति प्राप्त की है।"

कौशल्या का सन्देश

"प्रिय राम! मैंने तुम्हें वन को अकेला नहीं भेजा था। मैंने लक्ष्मण को भी तुम्हारे साथ भेजा था। यदि दैवयोग से लक्ष्मण की मृत्यु हो जाय तो तुम अयोध्या को मत लौटना।"

वस्तुतः ये देवियाँ प्रेम और कर्त्तव्य की सजीव देवियाँ थी। परिवारों में ऐसे ही माता-पिताओं और भाई बहिनों से प्रसन्नता रहती है।

साधारण व्यवहार

गृहस्थ के लोगों को वृद्धों का सम्मान करना चाहिए। वृद्ध दो प्रकार के होते हैं। एक विद्या से दूसरे आयु से। ब्राह्मण विद्या से,

क्षत्रिय बल से, वैश्य धन-धान्य से और शूद्र आयु से वृद्ध होता है। विद्या में जो वृद्ध होता है वह श्रेष्ठ होता है, अर्थात् विद्वान् और गुणवान् व्यक्ति अधिक सम्मान का अधिकारी होता है।

मनुष्य को व्यवहार में किसी प्रकार का भेदभाव न रखने वाला होना चाहिए। भेद बढ़ते ही तब हैं जब हम भीतर ही भीतर उन्हें बढ़ाते हैं। भेदों के दूर करने की सब से सुगम रीति यह है कि जब भेद की बात पैदा हो जाय तब सम्बन्धित व्यक्ति पर भेद स्पष्ट कर दिया जाय। इस प्रकार वास्तविक बात बतला देने पर मामला आसानी से समाप्त हो जायगा। भेद-भाव सन्देहों से बढ़ा करते हैं, जब सन्देह दूर हो जायँ तब भेद-भाव के बढ़ने की गुञ्जाइश रह ही नहीं सकती।

वेद में साधारण व्यवहार के सम्बन्ध में जो उत्तम शिक्षाएँ दी गई हैं उनमें से एक दो शिक्षाओं पर हम विचार करते हैं। वेद में एक शिक्षा इस प्रकार दी गई है:—

> येन देवा न वि यन्ति नो च वि द्विषते मिथः।
> तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ अथर्व० ३। ३०। ४॥

अर्थात्—जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान् पृथक् भाव वाले नहीं होते और न आपस में द्वेष करते हैं, वही व्यवहार तुम्हारे घर के लिये निश्चित करता हूँ। गृहस्थों को भली प्रकार सावधान किया जाता है कि मेल से वृद्धि करें।

शिक्षा का भाव यह है कि गृहस्थ के नर-नारी विद्वानों का अनुकरण करते हुए परस्पर में द्वेष न करें और न अपनी २ ढपली और अपने २ राग वाले बनें।

एक दूसरी शिक्षा में बतलाया गया है कि:—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्योऽन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
अथ० ३ । ३० । ५ ॥

अर्थात् – हे गृहस्थो ! तुम उत्तम विद्यादि गुण-युक्त, ज्ञानवान् और धुरन्धर विद्वान् होकर विचरते रहो और परस्पर मिल, धन-धान्य, राज्य-समृद्धि को प्राप्त होते हुए पृथक् २ विरोधी भाव मत रखो । एक दूसरे के लिए सत्य, मधुर वाणी बोलते हुए एक दूसरे को प्राप्त होओ । मैं समान लाभालाभ से एक दूसरे का सहायक, एक जैसे विचार वाला तुमको करता हूँ ।

इस शिक्षा का भाव सामाजिक उन्नति है । प्रत्येक विद्वान् गृहस्थ अन्यों के लाभ के साथ २ ही अपना लाभ करे और सब मिलकर ऐश्वर्य्य प्राप्त करें । एक दूसरे से मधुर भाषण करें और एक जैसे विचार रखते हुए एक दूसरे के सहायक बनें ।

एक तीसरी विश्वप्रेम की सुनहरी शिक्षा इस प्रकार दी गई है :—

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ अथ० ३ । ३१ । ६ ॥

अर्थात् – हे मनुष्यो ! तुम्हारा जल पीने का स्थान एकसा हो, तुम्हारा खान-पान साथ हुआ करे, तुम्हें समान जुए के साथ नियुक्त करता हूँ, जैसे धुरी के चारों ओर अरे हों इसी प्रकार सब मिलकर सम्यक् रीति से अग्नि का सेवन करें अर्थात् यज्ञादि व्यवहार करें ।

एक और शिक्षा इस प्रकार दी गई है :—

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ३।३१।७॥

अर्थात्—हे मनुष्यो ! तुमको एक दूसरे का सहायक, एक जैसे विचार वाला, एक ही कृत्य में शीघ्र प्रवृत्त होने वाला, सब को एक दूसरे के उपकार में नियुक्त करता हूँ । विद्वानों के समान अमृत की रक्षा करते हुए मन का शुद्ध भाव हो ।

यह शिक्षा सामाजिकोन्नति की एक और उत्तम शिक्षा है । भाव यह है कि सब मनुष्य एक विचार रखते हुए, एक दूसरे के सहायक, मिलकर एक कृत्य में लग जाने वाले, प्रातः और सायं शुद्ध भाव रखते हुए, लोक और परलोक के सुख की रक्षा करें ।

समस्त मनुष्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने की आज्ञा के बाद वेदों में अच्छी तरह कह दिया गया है कि मनुष्यों के साथ ही नहीं प्रत्युत प्राणीमात्र के साथ प्रेम, दया और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिये । वेद उपदेश करते हैं :—

(१) यो वै कशाया सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजन्यं च धेनुश्चानड्वाँश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥
अथर्व० २ । १ । २३ ॥

(२) दृते दृꣳह मा । मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
यजु० ३६ । १८ ॥

अर्थात्—ब्राह्मण, क्षत्रिय, धेनु, बैल, धान, यव और मिठाई, ये सात मिठाइयाँ हैं जो मनुष्य ज्ञान के इन सात मधुओं (मिठाइयों) को जानता है वह मधुमान् अर्थात् मधुर हो जाता है ।

हे दृष्टि स्वरूप परमात्मा ! मेरी दृष्टि को दृढ़ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्रदृष्टि से देखें और हम सब प्राणी परस्पर एक दूसरे को मित्रदृष्टि से देखें ।

ऊपर बतलाये हुए समस्त व्यवहारों के रहस्य को ठीक ठीक समझने के लिये मनुष्य अपने तथा समाज के सम्बन्धों को ठीक २ समझ लेवे। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज के विना वह रह ही नहीं सकता। व्यक्ति और समाज में अटूट अम्बन्ध है। व्यक्ति और समाज दोनों के उत्तम होने में ही दोनों का कल्याण है। ऊपर की शिक्षाओं में यही बतलाया गया है कि किस प्रकार के आचरण से व्यक्ति और समाज इस उत्तमता में योग दे सकते हैं। मनुष्य का सम्बन्ध दम्पति, कुटुम्ब, जाति, समाज और समस्त संसार के मनुष्यों तथा प्राणीमात्र से है। इन सम्बन्धों की श्रेष्ठता का रहस्य सब के साथ प्रेम, दया और सहानुभूति का आचरण है।

हिन्दू जाति की त्रुटि

परिवार और जातियां मिलकर तब ही रहा करती हैं जब उनका लक्ष्य एक हो। हिन्दू जाति की त्रुटि यही है कि हिन्दुओं का कोई समान लक्ष्य नहीं है। यदि २२ करोड़ जिह्वाओं से 'ओं एवं ब्रह्म' का उच्चारण होता तो आज उनकी दशा कुछ और ही होती। यहाँ तो ३३ करोड़ देवता हैं। व्यक्ति हैं. जाति नहीं है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है।

तीसरा परिच्छेद

पिछले पृष्ठों में गृहस्थों के पारस्परिक व्यवहार आदि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलाई गई थीं। इस परिच्छेद में गृहस्थ-जीवन के भिन्न २ कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला जायगा और विस्तारपूर्वक बतलाया जायगा कि पुरुष और स्त्री किन २ उद्देश्यों को लेकर गृहस्थ में प्रवेश किया करते हैं। जैसा कि विवाह की प्रतिज्ञाओं में इस से पूर्व बतलाया जा चुका है, पुरुष और स्त्री मिलकर ७ उद्देश्यों की पूर्ति के लिये गृहस्थ में प्रवेश किया करते हैं। वे सात उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(१) सन्तानोत्पत्ति तथा सन्तान के भरण-पोषण, शिक्षा और रक्षा इत्यादि के लिये।

(२) धनोपार्जन तथा उसका रक्षा के लिये।

(३) अन्न के लिये।

(४) बल सम्पादन के लिये।

(५) सुख की उन्नति के लिये।

(६) ऋतुओं के अनुकूल बनने के लिये।

(७) आपस में मित्रता के सम्पादन के लिये।

इन सातों उद्देश्यों पर हम पृथक् २ विचार करके उनकी महत्ता को अपने पाठकों के सामने रखने का यत्न करेंगे।

सन्तानोत्पत्ति

काम-वासना मनुष्य को एक स्वाभाविक वासना है। इसका समुचित नियन्त्रण मानवी सुख और जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष

प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। इसका सम्बन्ध केवल सन्तानोत्पत्ति से है न कि उच्छृंखल रीति से इसका शिकार बनने से। सन्तानोत्पत्ति मनुष्य के सब से बड़े कर्त्तव्यों में से है। 'पितृ-ऋण' इसे ही कहते हैं। सन्तान के रूप में अपना प्रतिनिधि देश और समाज को प्रदान करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसी रीति से मनुष्य पितृ-ऋण से उऋण होता है। वह प्रतिनिधि श्रेष्ठ होना चाहिए, निकम्मा नहीं होना चाहिए। 'पुत्र' शब्द पु + त्र इन दो अक्षरों से मिलकर बना है। 'पु' के अर्थ पवित्र तथा 'त्र' के अर्थ रक्षा करनेवाले के हैं, अर्थात् पुत्र और पुत्री वही हैं जो परिवार को पवित्र और उसकी रक्षा करने वाले हों। सन्तान में ये दोनों गुण आते ही तब हैं जब माता-पिता अपनी सन्तानों में ये गुण डालने का यत्न करते हैं और यह तब ही सम्भव है जब वे स्वयं अपने जीवन में इन गुणों को धारण और व्यवहृत करते हैं। 'पवित्रता' के लिये शुद्धता और 'रक्षा' के लिये सामर्थ्य वा शक्ति की जरूरत होती है। यदि सन्तान में ये गुण हों तो ठीक है अन्यथा इन गुणों से रहित सन्तानों से परिवार और समाज को कोई विशेष लाभ तो नहीं होता; हाँ, उनसे उनमें अनावश्यक वृद्धि अवश्य हो जाती है। महाभारत में आता है कि उन दिनों माताएँ निर्बल और अयोग्य सन्तानों का पैदा करना पाप समझा करती थीं। इस सम्बन्ध में महाभारत में एक बड़ी उत्तम आख्यायिका आती है जो नीचे दी जाती है:—

आख्यायिका

एक समय सप्तऋषि जिनमें अरुन्धती भी थी, यात्रा कर रहे थे। चलते २ वे एक तालाब पर पहुँचे। वह स्थान बड़ा रमणीक था। उन्होंने खाने के लिये कमल के डण्ठल तोड़े और स्नान करने के लिए तालाब में घुसे, स्नान करके जब किनारे पर आये तो देखा

डंठल ग़ायब हैं। उन्होंने किसी व्यक्ति को डंठल ले जाते हुए नहीं देखा था इसलिये सन्देह हुआ कि आपस में ही किसी ने छुपा लिये हैं। सन्देह के निवारण के लिये प्राचीन काल में भी शपथ खाने का रिवाज था, परन्तु शपथ खाने का तरीका आजकल के तरीके से भिन्न था। *

उस समय अरुन्धती ने भी सप्त ऋषियों के सन्देह निवारण के लिये जो शपथ खाई थी वह यह थी कि "जो पाप माता को अनाचार से लगता है, निर्बल सन्तान पैदा करने से लगता है, वही पाप डंठल चुराने वाले को लगे।" वस्तुतः उस समय ये सब एक समान पातक समझे जाते थे। माताएँ जब निर्बल सन्तान पैदा करना पाप समझती थीं तब ही राम, भीम, अर्जुन इत्यादि पवित्र और बलवान पुत्रों को पैदा करती थीं। दुःख है आज हमारी माताएँ अपने कर्त्तव्यों को भुला देने से हम जैसी निकम्मी सन्तानों को पैदा करती हैं और इसका एकमात्र कारण तैय्यारी किये विना सन्तानों का उत्पन्न करना ही है। यदि तैय्यारी करके सन्तान पैदा की जाय तो कोई कारण नहीं, उत्पन्न सन्तान न केवल रूपरङ्ग में ही वरन गुणों में भी आदमी ही होवें।

* भरत ननिहाल से लौट कर आये थे। राम उनकी वापसी से पूर्व ही वन को चले गये थे। भरत कौशल्या के पास गये। कौशल्या ने उनपर यह दोष लगाया कि राम के वनवास में केवल कैकेयी का ही हाथ नहीं है वरन् तुम्हारा भी षड्यन्त्र है। भरत के माता कौशल्या के इस सन्देह के निवारणार्थ लगभग ३३ शपथें खाने का वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड में वर्णन आता है। उनमें से भरत ने एक शपथ यह खाई थी कि "माता! यदि राम के वन जाने में मेरा हाथ हो तो मेरी वह गति हो जो सन्ध्या न करने वाले की होती है।" भरत ने एक दूसरी शपथ यह खाई थी कि "मैं उस गति को प्राप्त होऊँ जिसे, प्राप्त-शिक्षा के अनुकूल मनोवृत्ति न रखने वाले प्राप्त होते हैं।

पुत्र और पुत्री का पैदा करना

पुत्र और पुत्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात है। पुत्र और पुत्रियों के जन्म का जहाँ तक सम्बन्ध है वर्त्तमान में संसार दो भागों में बँटा हुआ है। एक भाग की माताएँ केवल पुत्र चाहती हैं और दूसरे भाग की माताएँ केवल पुत्रियाँ चाहती हैं। पश्चिम की माताएँ केवल पुत्रियाँ चाहती हैं, पुत्र इसलिये नहीं चाहती हैं कि वह विवाह के बाद उनसे अलग हो जाता है। पुत्री के साथ रहने से अपने आमोद-प्रमोद में कमी नहीं आती और अपने दिन आनन्द से कट जाते हैं। इस अवस्था का एक दुष्परिणाम, पति के जीवन का दुःख और निराशापूर्ण होना तथा तलाकों की संख्या में वृद्धि का होना है। अभी हाल में पश्चिम के एक विद्वान ने पश्चिम के तलाकों पर एक लेख में विचार करते हुए उनकी जिम्मेवारी माताओं पर निम्न शब्दों में डाली थी:—

"विदेशों में जो तलाकों की ऐसी धूम मच रही है इसके अनेक प्रकार के कारण बताये जाते हैं, परन्तु साधारणतया लोगों का विचार है कि तलाक (विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद) का प्रधान कारण सम्बन्धियों की अदूरदर्शिता और अनुचित हस्ताक्षेप है, खासकर पति की सास का। अमेरिका में तलाकों के मूल कारण की जांच करने की चेष्टा हुई थी और इससे भी इसी विचार की पुष्टि होती है।

फ़िलेडेल्फ़िया (अमेरिका) के म्यूनीसिपल कोर्ट की श्रीमती डा० एलाइस जौन्सन ने तलाक के दस हज़ार अभियोगों की जांच की है और अन्त में वे इस परिणाम पर पहुंची हैं कि तलाक के ५ प्रधान कारण हैं। इनमें सब से प्रबल कारण एक दूसरे के चरित्र पर अविश्वास और लड़की की मां का अनुचित हस्ताक्षेप है। इसलिये श्रीमती डा० एलाइस का मत है कि जो लड़कियाँ अपनी मां से अलग नहीं रहना चाहती हैं उन्हें विवाह करने का विचार ही छोड़ देना चाहिये।"

पूर्व की माताएँ पुत्र चाहती हैं, पुत्रियाँ नहीं, क्योंकि पुत्रियों का सम्बन्ध माता-पिता से छूट जाता है। वे पति-कुल की हो जाती हैं, पुत्र का सम्बन्ध उनसे नहीं छूटता है। हमारी माताएँ पुत्र-प्राप्ति के लिये इधर-उधर मन्दिरों और मज़ारों, साधु-महन्तों तथा पीरों के चरणों में प्रायः झख मारा करती हैं और अपनी दुर्गति और यहाँ तक कि अपने सतीत्व का नाश कराया करती हैं।

पुत्रोत्पत्ति के दो तरीके हैं। एक स्वाभाविक है और दूसरा रजोदर्शन सम्बन्धी है।

जर्मनी के डाक्टरों ने खोज करके बतलाया है कि माता-पिता की आयु के अन्तर से पुत्र और पुत्रियाँ पैदा हुआ करती हैं। उनके परीक्षण के अनुसार १०० लड़कियों के पीछे लड़कों के जन्म का अनुपात इस प्रकार है:—

(१)	यदि पिता माता से छोटा हो तो ..	९०·६
(२)	यदि दोनों समान आयु वाले हों तो	९०·०
(३)	यदि पिता माता से १ से ३ वर्ष तक बड़ा हो तो	१०३·४
(४)	,, ,, ,, ६ से ९ ,, ,, ,,	१२४·७
(५)	,, ,, ,, ९ से १८ ,, ,, ,,	१४३·७
(६)	,, ,, ,, १८ वर्ष या अधिक बड़ा ,,	२००·०

ये अङ्क उस वैदिक मर्य्यादा का समर्थन करते हैं जिसके अनुसार वर की आयु वधू की आयु से कम से कम ड्योढ़ी होनी चाहिये।

रजोदर्शन की मर्य्यादा

१६ दिन ऋतुदान के समझे जाते हैं। इनका प्रारम्भ रजोदर्शन से हुआ करता है। इन १६ दिनों में जो अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या या पौर्णमासी आवें उन्हें छोड़ देना चाहिए, शेष में से प्रथम की चार रात्रि भी छोड़ देनी चाहिएँ। इनके अतिरिक्त ११वीं और १३वीं रात्रियाँ भी त्याज्य हैं। पुत्रों के इच्छुकों को छठी, आठवीं, दशवीं बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं रात्रियों में ऋतुदान उत्तम जानना चाहिए। जिन्हें कन्या की इच्छा हो उन्हें पाँचवीं, सातवीं, नवमी और पन्द्रहवीं रात्रियों में ऋतुदान करना चाहिए। साधारणतया पुरुष के अधिक वीर्य्य होने से पुत्र और स्त्री के आर्तव के अधिक होने से कन्या उत्पन्न हुआ करती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि दिन में ऋतुदान सर्वथा वर्जित है। इसका कारण यह है कि स्त्री-पुरुष के दिन में सङ्गम करने से प्राण क्षीण होते हैं और शक्ति का ह्रास होता है।

संतति-निग्रह

माल्थ्यूज़ के सिद्धान्तानुसार कृत्रिम साधनों द्वारा सन्तति-निग्रह की प्रथा बड़ी दूषित प्रथा है। दुःख है, भारत के उन उच्च परिवारों और शिक्षित वर्गों में 'जिनमें सन्तानों के पालन-पोषण शिक्षा आदि की पर्य्याप्त सुविधाएँ और क्षमताएँ प्राप्त हैं' यह प्रथा द्रुत गति से घर करती जारही है और हमारी कुछ पढ़ी लिखी, मुख्यतया अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त देवियाँ तथा पुरुष इन साधनों के प्रचार का जन-साधारण में यत्न कर रहे हैं और कतिपय सभा-सुसाइटियाँ और सरकारें उस प्रचार में योग दे रही हैं। यह प्रथा लोगों के सदाचार और स्वास्थ्य के लिये हानिकारक है। किसी समाज या देश को इस प्रथा से बड़ी से बड़ी जो हानि हो सकती है वह उस देश या समाज

अच्छे व्यक्तित्वों से शून्य हो जाना या उनके अच्छे व्यक्तित्वों में कमी का हो जाना है। पश्चिम की यह एक दुष्प्रथा है जिसके अन्ध अनुकरण से देश का अकल्याण निश्चित है।

पश्चिम की एक दूसरी भयङ्कर कु-प्रथा विवाह न करने की है। इस प्रथा का मूल स्रोत मुख्यतया साम्यवाद है। साम्यवाद की शिक्षानुसार विवाह करना बन्धन समझा जाता है। स्त्री-पुरुष ब्रह्मचारी नहीं रहते हैं, वे आपस में मिलते-जुलते हैं, सन्तान होती हैं, उन सन्तानों के जलाने के लिये वहाँ भट्टियाँ सुनने में आई हैं। सन् १९१४ में फ्रांस की पुलिस ने एक केस रजिस्टर्ड किया था, उस केस की कहानी यह थी, कि एक स्त्री जो पढ़ी-लिखी थी, नाजायज़ सम्बन्ध से उत्पन्न बच्चों को जलाने के लिये अपने यहाँ भट्टी रखती थी। वह फ़ीस लेकर बच्चों को जलाया करती थी और उनका हिसाब भी रखती थी। हिसाब देखने में विदित हुआ कि वह ३००० बच्चों को जला चुकी थी। यह स्त्री-पुरुषों की आज़ादी और विवाह न करने का परिणाम है।

विवाहित लोग सन्तति-निग्रह के द्वारा सन्तानोत्पत्ति को रोकते हैं, अविवाहित लोग सन्तानों को उपर्युक्त तथा अन्यान्य उपायों से नष्ट करते हैं, फल यह होता है कि देशों की आबादी घटजाती है, राष्ट्रों को विवश आबादी बढ़ाने का यत्न करना पड़जाता है। पश्चिम के कई देश आज अपनी आबादी बढ़ाने का यत्न कर रहे हैं, अविवाहितों पर टैक्स लगा रहे हैं और विवाहितों को पुरस्कार इत्यादि के प्रलोभनों द्वारा अधिकाधिक सन्तानें पैदा करने का प्रोत्साहन दे रहे हैं और इस से आबादियाँ बढ़ रही हैं।

सारांश यह है कि जिन देशों में इन दोनों या इस प्रकार की अन्य दुष्प्रथाओं ने घर किया है वे उनके विनाश का कारण बन

रही हैं और वे देश पछता रहे हैं। इस प्रकार की प्रथाओं का हमें कभी विचार भी मन में नहीं लाना चाहिये।

काम-विज्ञान के सम्बन्ध में हमारे यहाँ दो त्रुटियाँ हैं, एक तो माता-पिता का स्वयं इससे प्रायः अनभिज्ञ या अनुभवशून्य होना और दूसरी अपनी सन्तानों को इसके शिक्षण से वञ्चित रखना है। माता-पिताओं का धर्म्म है कि वे इन सब बातों को स्वयं जानें और उनकी शिक्षा अपनी सन्तानों को देवें, शिक्षण में शर्म न करें।

धन-संग्रह करना

गृहस्थाश्रम ही एक आश्रम है जिसमें उद्योग करके मनुष्य को धन-संग्रह तथा उसकी रक्षा करने का अधिकार दिया गया है और ऐसा करना उसका कर्त्तव्य ठहराया गया है। इस तत्त्व को बहुत समझते हैं और बहुत नहीं। दुर्भाग्य से हमारे इस देश में एक ऐसे सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई जिसने दुनियाँ को मिथ्या और निकम्मा बतलाया और लोगों को वैराग्य के नाम पर अकर्मण्य और पुरुषार्थ-हीन बनाया। इस मनोवृत्ति को लेकर जो लोग गृहस्थ में प्रवेश करते हैं वा इस मनोवृत्ति को रख कर जो गृहस्थ में रहते हैं उन्हें गृहस्थ में सफलता नहीं मिलती। नीति में ठीक कहा है कि–'मनुष्य को विद्या तथा धनोपार्जन करते हुए यह समझना चाहिए कि मैं अजर अमर हूँ और धर्म्म को आचरण में लाने के सम्बन्ध में यह समझना चाहिए कि मृत्यु मेरे निकट खड़ी है और मेरे बालों को पकड़े हुए है।'

वास्तव में धन, धर्म्म और विद्या के सम्बन्ध में हमारी मार्ग-प्रदर्शिका यह तथा इस प्रकार की शिक्षाएँ होनी चाहिएँ, न कि अकर्मण्यता और वैराग्यवाद की पोषक बातें, उस विनाशक सम्प्र-दाय की कुत्सित शिक्षाएँ। अकर्मण्यवाद की कुत्सित शिक्षाओं का एक अभिशाप रूप है हम लोगों का पुरुषार्थशील देशों की तुलना में आर्थिक दृष्टि से हीन होना है, जैसा कि निम्न उदाहरण से स्पष्ट है —

इस समय अमेरिका सब देशों से ज्यादा दौलतमन्द है। उसकी राष्ट्रीय आय प्रति व्यक्ति १०७०) रु० वार्षिक है। आस्ट्रेलिया की वही आय ८१०), ब्रिटेन की ७५०), कनाडा की ६५०), फ्रांस की ५७०), जर्मन की ४५०) और भारत की ४५) रुपये हैं। हमारे इस आर्थिक दिवालियापन का एक कारण जहाँ हमारी सरकार है वहाँ एक कारण हम लोगों का केवल ४ दिन की जिन्दगी का मानना और उसके फलस्वरूप हमारी पुरुषार्थहीनता भी है। यही दशा हमारी कृषि सम्बन्धी पैदावार की है। स्पेन में प्रति वर्ष खेती की उपज प्रति एकड़ ५७०० पौन्ड है, जापान में २१०० पौन्ड, इटली में ३३०० पौन्ड, और हमारे देश में ८९० पौन्ड है। ये सारी बातें उदाहरण के तौर पर रखी गई हैं। हमारी इस प्रकार की हीनता के मूल में हमारी दूषित मनोवृत्ति ही है। हमारी मनोवृत्ति इस बात के लिये कि दुनिया को जिस तरह भोगना चाहिए उस प्रकार न भोगने के लिये जिम्मेवार न हो, इसके लिये उपनिषदादि सत्शास्त्रों ने हमें बहुत उत्तम शिक्षा दी हैं। उपनिषद् ने प्रेय मार्ग की निन्दा नहीं की है। उसने श्रेय मार्ग के ठीक ठीक अनुष्ठान के लिये प्रेय-मार्ग का आश्रय अनिवार्य ठहराया है। या यों कह सकते हैं कि परलोक की सिद्धि की शर्त इह लोक की सिद्धि ठहराई है। गृहस्थों की मनोवृत्ति इसी प्रकार की होनी चाहिए और उन्हें पुरुषार्थ से खूब धन-संग्रह करना चाहिए और उसकी रक्षा करनी चाहिए। इसके लिये उन्हें धन (अर्थ) के तत्त्व और रहस्य को अपने सामने रखना चाहिए।

अर्थ की पवित्रता

हमारी संस्कृति में मोक्ष की ही भांति अर्थ की भी प्रधानता है। अर्थ का ही दूसरा नाम 'सम्पत्ति' है। यह अर्थ मोक्ष का प्रधान सहायक है। विना अर्थ शुद्धि के मोक्ष नहीं हो सकता। जिस प्रकार आत्मा के लिये मोक्ष की, बुद्धि के लिये धर्म्म की और मन के लिये

काम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर के लिये अर्थ की भी आवश्यकता होती है। मोक्ष और धर्म्म की आवश्यकता केवल मनुष्य ही को होती है, परन्तु अर्थ और काम के विना तो मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग और तृणपल्लव किसी का भी निर्वाह नहीं हो सकता। काम के विना तो काम चल सकता है परन्तु अर्थ के विना नहीं चल सकता, इसी से इसकी प्रधानता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस लिये उसकी मीमांसा बड़ी सावधानी से करनी चाहिये। क्योंकि उसके अनुचित संग्रह और व्यय से मोक्षमार्ग बिगड़ जाता है। आर्य्यों ने अर्थ के इस महत्त्व को भली भाँति समझा था। यही कारण है उन्होंने अर्थ के विषय में बहुत ही निष्पक्ष और उदारभाव से विचार किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम् ।

अर्थात्—समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता ही सर्व श्रेष्ठ है। इस लिये संसार में अर्थ-संग्रह करते समय बड़ी सावधानता से काम लेना चाहिए। मनु भगवान् ने अर्थ-संग्रह के सम्बन्ध में प्रकट किया है कि जिस वृत्ति में जीवों को पीड़ा न हो, विना अपने शरीर को क्लेश दिये, अपने ही अगर्हित कर्म्मों से केवल निर्वाह मात्र के लिये अर्थ का संग्रह करें और उन समस्त अर्थों को छोड़दे जो स्वाध्याय में विघ्न डालते हों। अर्थात् मोटे रूप से अर्थ-संग्रह के सम्बन्ध में निम्न ५ बातें आवश्यक हैं:—

(१) अर्थ-संग्रह करते समय किसी भी प्राणी को कष्ट न हो।
(२) अर्थ-संग्रह करते समय अपने शरीर को भी कष्ट न हो।
(३) अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न किये गए अर्थ से ही निर्वाह किया जाय। दूसरों की कमाई से नहीं।
(४) अपना अर्थ भी किसी बुरे कर्म से संग्रह न किया जाय।
(५) अर्थोपार्जन से स्वाध्याय में विघ्न न हो।

इन पाँचों बातों को ध्यान में रख कर जो धन उपार्जन किया जाता है वही अर्थ पवित्र होता है और जो अर्थ इन ५ बातों के अतिक्रमणपूर्वक कमाया जाता है वह अनर्थ हो जाता है।

वेद ने उपदेश किया है कि इस संसार में परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझ कर किसी के भी धन की इच्छा मत करो किन्तु उतने से ही निर्वाह करो जितना तुम्हारे कर्मानुसार उसने तुम्हारे लिये नियत किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष हो सकती है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। अर्थात् मोक्षार्थी को संसार से उतने ही पदार्थ लेने चाहिएँ जिनके लेने में किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। इस नियम का पालन केवल इसी एक सिद्धान्त के अवलम्बन से हो सकता है कि जहाँ तक बने इस संसार से ही बहुत ही सरल उपायों से बहुत ही कम पदार्थ लिये जायँ क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं सभी को अर्थ की आवश्यकता है, इस लिये जब तक बहुत ही कम लेने का नियम न होगा तब तक सब के लिये अर्थ की सुविधा नहीं हो सकती। संसार में देखा जाता है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं उन सब का अर्थ आहार और घर तक सीमित है। बहुत से प्राणियों को तो आहार के अतिरिक्त घर की भी आवश्यकता नहीं होती पर मनुष्य का अर्थ ४ विभागों में विभाजित है। इन चारों विभागों का नाम भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी है। इन चारों का सौन्दर्य्य उनकी सादगी, सात्विकता और पवित्रता में सन्निहित है। इस सादगी, सात्विकता और पवित्रता को मनुष्य को समझना और उन्हें क़ायम रखना चाहिए।

सुखोत्पत्ति

सुखोत्पत्ति की शिक्षा के सम्बन्ध में सुख की व्याख्या को भली भांति समझ लेना चाहिए। 'सुख' शब्द सु+ख दो अक्षरों से

मिल कर बना है। सु=अच्छा, ख=इन्द्रियाँ, अर्थात् अच्छी इन्द्रियों का नाम सुख है। इन्द्रियों को अच्छे बनाने और सुखोपलब्धी के लिये गृहस्थ के स्त्री-पुरुषों को यत्न करना चाहिए और पुरुषार्थ करके कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करके उसे प्राप्त करना चाहिए।

ऋतुओं का अनुकूल बनाना

ऋतुएँ यज्ञादि कार्य्यों से अनुकूल हुआ करती हैं, इसके लिये स्त्री-पुरुषों को यत्न करना चाहिए।

पारस्परिक मित्रता

स्त्री-पुरुषों को जहाँ अपने मध्य मित्रता का सम्पादन करना आवश्यक है वहाँ संसार को मित्र बनाना भी अत्यन्त आवश्यक है। हम संसार के लोगों को मित्र दृष्टि से देखें। हमारी आँखों में प्रेम हो, जिसे देखें वह प्रेम-मय देख पड़े, वेद की यह शिक्षा इस सम्बन्ध में हमारी मार्ग-प्रदर्शिका होनी चाहिए।

यहाँ तक गृहस्थ-जीवन के श्रेष्ठ बनाने में सहायता देने वाली कतिपय मोटी २ आवश्यक बातें पाठकों के सामने रक्खी गई हैं। अब गृहस्थ-जीवन के सुधार में बहुमूल्य योग देने वाली बातों की चर्चा की जाती है। वे बातें यज्ञ हैं, गृहस्थ का जीवन यज्ञमय होता है, उसे दो प्रकार के यज्ञ नियम से करने पड़ते हैं और वे नैत्यिक तथा नैमित्तिक यज्ञ कहलाते हैं।

नैत्यिक यज्ञ

नैत्यिक यज्ञ ५ हैं और वे इस प्रकार नियत हैं—

(१) ब्रह्म-यज्ञ—(सन्ध्या)
(२) देव-यज्ञ—(हवन)

(३) पितृ-यज्ञ—(माता-पिता आदि की सेवा)
(४) भूत-यज्ञ—(बलिवैश्वदेव)
(५) अतिथि-यज्ञ—(अतिथि सत्कार)

नैमित्तिक यज्ञ

वे यज्ञ होते हैं जो समय २ पर आर्य्य जाति में मनाए जाने वाले पर्वों पर किये जाते हैं, ये पर्व प्रत्येक ऋतु से सम्बन्धित हैं और वर्षभर में फैले हुए हैं।

दोनों प्रकार के यज्ञों का महत्त्व

इन दोनों प्रकार के यज्ञों का करना प्रत्येक गृहस्थ व नर-नारी का धर्म्म है, इससे व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के जीवनों में दृढ़ता आती है।

ब्रह्म-यज्ञ

ब्रह्म-यज्ञ का नाम ही 'सन्ध्या' है जो नियम से प्रातः और सायं-काल की जाया करती है। सन्ध्या करना ज़रूरी है, यह एक उपयोगी अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान से मनुष्य को अपने, अपने पड़ौसियों और ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य कर्मों का बोध हो जाता है और वह अपने को अधिक से अधिक अच्छा बना सकता है।

हवन-यज्ञ

घर के काम करते हुए हम परमात्मा की दी हुई चीज़ों को अस्वच्छ बनाया करते हैं। हम मल से पृथ्वी को और स्नान से जल को और इसी प्रकार अन्य पदार्थों को अपवित्र करते रहते हैं। पृथ्वी इत्यादि देवता हैं, इस प्रकार पृथ्वी इत्यादि को अपवित्र करने से हम पर देवताओं का ऋण हो जाता है, इस ऋण के चुकाने के

लिए हम जिम्मेदार हो जाते हैं, यह ऋण किसी अच्छे काम के कर देने से चुक जाता है, वे अच्छे काम यज्ञ हैं, उन्हीं यज्ञों में 'हवन यज्ञ' एक अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी यज्ञ है। गृहस्थ में हवन प्रति दिन नियम से होना चाहिए। यदि यज्ञ पारिवारिक जनों के साथ मिल कर किया जाय और बाद को एक उत्तम भजन गाया जाय तो प्रत्येक मनुष्य उसके बाद अपने में धार्मिकता का अनुभव करेगा और यह धार्मिकता दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायगी, इससे उसका जीवन श्रेष्ठ बन जायगा। कोई संक्रामक बीमारी पास नहीं फटकेगी। हमारी सरकार उस जाति की है जो हवन यज्ञ नहीं करती है। हमने देखा है कि प्लेग के ज़मानों में म्युनीसिपल कमेटियों ने प्लेग के प्रभाव को कम करने और उसे निश्शेष करने के लिये बस्तियों में हाथ-गाड़ियों पर बड़े-बड़े कढ़ाव रखवा कर उनमें औषधियाँ जलवाईं और उनको गली २ कूचे में गश्त कराया और इस उपाय से प्लेग पर विजय पाई। जगहों को शुद्ध (Disinfect) करने के लिये आग जलाते हैं, आग का काम थोड़ी चीज़ को बहुत फैलाकर बहुतों तक पहुंचाना है। जल, वायु, पृथ्वी, और घर इत्यादि की शुद्धि का हवन एक उत्तम तरीका है। हवन यज्ञ एक सात्त्विक—

दान

है। सात्त्विक दान वह है जो इस हाथ दे और उस हाथ को ख़बर भी न लगे तथा यत्न करने पर वह छुपाया न जासके। यज्ञ के द्वारा दस रुपयों का दान हज़ारों प्राणियों तक पहुँच जायगा और किसी को भी दाता का पता नहीं लग सकता।

पितृ-यज्ञ

जीवित माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा-सत्कार करना 'पितृ-यज्ञ' कहाता है। इस यज्ञ के अनुष्ठान से गृहस्थ के समस्त

स्त्री-पुरुषों में प्रसन्नता रहती है और गृहस्थ सुख-धाम बने रहते हैं। माता-पिताओं को चाहिए कि वे अपनी सन्तानों को अभिवादन करना सिखाएँ और उनसे प्रति दिन अभिवादन कराएँ। यदि एक तीन वर्ष का बच्चा माता-पिता की शिक्षानुसार माता-पिता के चरण छूता है तो उसे ऐसा करते देखकर, हो नहीं सकता कि उनका और अन्य गुरुजनों का हृदय प्रेम और प्रसन्नता से गद्गद् न हो जाय, उसे वे माता-पिता प्रेम से गोद में उठालेंगे, प्यार करेंगे। इस से वह भी खुश होगा और घर भर में प्रसन्नता रहेगी। मरों को अन्न तथा पानी देना पतृ-यज्ञ नहीं है, इस सम्बन्ध में—

गुरु नानक

जी की एक बड़ी अच्छी आख्यायिका है। नानकजी गया तीर्थ में थे, वहाँ उन्होंने सैकड़ों स्त्री-पुरुषों को मरे पितरों के निमित्त जल देते हुए देखा। पूछने पर उन्हें जल दान का कारण विदित हुआ। वे भी पानी में खड़े होकर अपने ग्राम की तरफ़ मुँह करके पानी उलीचने लगे। ऐसा करने का कारण पूछने पर नानकजी ने जल देते हुए लोगों को उत्तर दिया कि मैंने घर पर एक बाग़ लगाया था, वह सूख न जाय। इस लिये मैं उसे पानी दे रहा हूँ। इस पर लोगों ने पूछा कि वे यहां से उसे जल देकर किस प्रकार हरा-भरा कर सकते हैं? नानकजी ने उत्तर दिया कि मुझे मालूम है कि बाग़ किस दिशा में है और कहाँ पर है। यदि यह सब कुछ जानने पर भी मेरा जल उस बाग़ तक नहीं पहुंच सकता, तो तुम्हारा जल तुम्हारे पितरों तक, जिनके सम्बन्ध में यह भी पता नहीं कि वे कहाँ हैं, कैसे पहुँच सकता है? वस्तुतः पितृ-यज्ञ के लिये मरे हुओं को जल इत्यादि पहुँचाने का यह तरीका ढोंग-मात्र है।

बलिवैश्वदेव

यह यज्ञ उन कीट-पतङ्ग आदि विविध जन्तुओं की हिंसा का

प्रायश्चित्त मात्र है, जो गृहस्थ के व्यापार में अनजान में हमसे मर जाया करते हैं, भोजन के समय प्रारम्भ में ही कुछ भाग निकाल देने से यह यज्ञ किया जाता है।

अतिथि-यज्ञ

विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकारी और सत्योपदेश-कर्त्ता होना, इत्यादि उत्तम अतिथि के लक्षण हैं। अतिथि का मुख्य कार्य्य गृहस्थों में सत्य का प्रचार करना है, उसके आने की कोई तिथि निश्चित् नहीं होती। अतिथि को आसन और मधुपर्क (नाश्ता) आदि प्रदान करना तो एक साधारण शिष्टाचार है। गृहस्थ में यह यज्ञ प्रतिदिन होना चाहिये, इस यज्ञ के अनुष्ठान से व्यक्ति और समाज दोनों श्रेष्ठ बना करते हैं।

गृहस्थ के बिगड़ने का कारण

गृहस्थों के बिगड़ने का एक कारण पुरुष की स्त्री को हीन समझने की मनोवृत्ति है। इस दूषित मनोवृत्ति के फल स्वरूप हमारे गृहस्थ बिगड़े हुए हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति के विकास में हमारे मध्यकालीन धर्माचार्य्य वा उनके कथित उपदेशों और लेखों का बड़ा हाथ है। श्री शंकराचार्य्यजी के नाम से एक प्रश्नोत्तरी बनी हुई देख पड़ती है, उसमें स्त्रियों के सम्बन्ध में बहुत गन्दी और अपमान जनक बातें लिखी गई हैं, उसमें स्त्रियों को नरक का द्वार बतलाया गया है, यह प्रश्नोत्तरी शङ्कराचार्य्यजी की बनाई हुई नहीं प्रतीत होती, परन्तु प्रसिद्ध उन्हीं के नाम से है। स्त्रियों के सम्बन्ध में यह मनोवृत्ति बदली जानी चाहिए, इस मनोवृत्ति के बदल जाने से निश्चय ही हमारे गृहस्थ श्रेष्ठ हो जायँगे और उत्तम सन्तान पैदा हो सकेगी।

वलमीकि रामायण में स्त्री का स्थान

जब रामचन्द्रजी सीता के भवन में वन जाने की अनुमति लेने

के लिये आये, तब वे भी वन जाने के लिये आग्रह करने लगीं, रामचन्द्र के निषेध करने पर सीता ने कहा ;–प्राणेश ! मुझे अयोध्या में रख कर पति-सेवा से वञ्चित न कीजिये, मैं आपके साथ ही चलूँगी और जङ्गलों में आपके मार्ग में आने वाले कङ्कड़-कांटे बीन कर आपका रास्ता साफ़ करने में ही अपना सौभाग्य समझूँगी। माता-पिता ने मुझे हर प्रकार की शिक्षा दी है, अतः इस समय 'किन्तु-परन्तु' की नुक्ताचीनी न करके आपको मेरी नीतिपूर्ण सम्मति मान लेनी चाहिए। परन्तु रामचन्द्र टस से मस न हुए, उन्होंने फिर भी सीता को अवध में रहने का उपदेश दिया और कहा कि मेरे वन-गमन के बाद तुम कभी भूलकर भी भरत से मेरी प्रशंसा न करना, क्योंकि प्रभुता पाने पर कोई मनुष्य अपने सामने दूसरों की प्रशंसा नहीं सुनना चाहता। अब क्या था, सीता की आँखों में तुरन्त नारी सुलभ तेज उमड़ पड़ा, उसने रामचन्द्र को सम्बोधन करते हुए कहा कि–धार्मिक-मर्य्यादा में कलङ्क-कालिमा का टीका लगाने वाली, इस प्रकार की अकथनीय बातें आप सरीखे क्षत्रिय कुमार को शोभा नहीं देती।

इस प्रकार की मनोवृत्ति-पूर्ण बातें तो स्त्रियाँ किया करती हैं "यदि स्वयम्बर के समय मेरे पिता (जनक) यह जान जाते कि रामचन्द्र वीर होते हुए भी पुरुष के रूप में स्त्री-हृदय से परिपूर्ण हैं तो सच जानिये एक तो क्या अनेक 'शिव-धनुप' तोड़ने पर भी वे तुम्हारे (स्त्रीहृदयपूर्ण-पुरुष के) साथ कभी मेरा विवाह न करते। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त रामायण काल में नारियों का स्थान कितना महत्त्वशाली था और वे किस प्रकार समय पड़ने पर पुरुषों पर ताड़ना-शक्ति का प्रयोग कर सकती थीं।

इसके अतिरिक्त शत्रुघ्न ने कुबड़ी मन्थरा को राजकुल की सारी अशान्ति का मुख्य कारण समझकर जब उस पर पादःप्रहार

किया तो धर्मवत्सल भरत ने तुरन्त रोक दिया और कहा—कि स्त्रियाँ अवध्य हैं, अतः इसे क्षमा कर दो और यदि कहीं यह समाचार रामचन्द्र ने सुन लिया तो वे तुमसे तथा मुझसे बोलना तक भी त्याग देंगे क्योंकि स्त्रियों का अपहरण करने वालों से उन्हें बहुत घृणा है।

रामायण के पाठकों से यह बात भी छिपी नहीं है कि जब रामचन्द्र की सहायता से सुग्रीव ने बाली द्वारा अपहरण किया हुआ अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और राज्य के मद में वह राम-को बिल्कुल भुला बैठा, तब रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण को पंपापुरी में सुग्रीव को सचेत तथा भर्त्सना करने के लिये भेजा तो सुग्रीव भय के मारे स्वयं तो उनके सामने न आ सका, किन्तु अपनी स्त्री 'तारा' को भेज दिया लेकिन जब उसके हृदय में भी भय का सञ्चार हुआ तो सुग्रीव ने उसे समझाकर तुरन्त उसका समाधान कर दिया कि तुम्हें सामने देखकर लक्ष्मण का तूफ़ानी क्रोध शान्त हो जायगा क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष स्त्रियों के साथ कठोरता का व्यवहार तथा उनका अपमान नहीं करते।

रामायण के उपर्युक्त उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह प्रमाणित होजाती है कि रामायणकालीन भारत में स्त्रियों को वे सब अधिकार प्राप्त थे जो वेदों में उनके लिये मुख्य रूप से नियत है, उस समय प्रत्येक समाज में उनकी मान-मर्य्यादा का समुचित स्थान था।

संस्कार

गृहस्थाश्रम से सन्तान का प्रादुर्भाव होता है तथा संस्कारों से उसे संस्कृत और श्रेष्ठ बनाया जाता है। विवाह के बाद गृहस्थाश्रम से सम्बन्धित संस्कार १२ हैं:—

(१) गर्भाधान	(२) पुंसवन	(३) सीमन्तोन्नयन
(४) जातकर्म	(५) नामकरण	(६) निष्क्रमण
(७) अन्नप्राशन	(८) चूड़ाकर्म	(९) कर्णवेध
(१०) उपनयन	(११) वेदारम्भ	(१२) समावर्तन ।

संस्कार किस प्रकार किये जाते हैं और प्रत्येक संस्कार की उपयोगिता क्या है इन सब बातों को जानने के लिये महर्षि दयानन्द कृत 'संस्कार-विधि' को देखना चाहिये, संस्कारों के सम्बन्ध में अधिक न लिखकर केवल गर्भाधान से सम्बन्धित कतिपय बातों का यहाँ उल्लेख किया जायगा। सबसे पहिली बात यह है कि इस संस्कार के करने से पहिले पति और पत्नी को उसके करने की तैयारी करनी चाहिये, इस तैयारी में निम्न बातों का समावेश है:—

(१) उन्हें देखना चाहिये कि वे दोनों अच्छे हृष्ट-पुष्ट हैं ? यदि न हो तो पहिले इस कमी को दूर करना चाहिये। यदि पत्नी कमज़ोर हुई तो बच्चे के लिये उससे दूध मिलना कठिन हो जायगा और यह सभी जानते हैं कि दूध न मिलने से बच्चे के जीवन के लाले पड़ जाते हैं।

(२) यदि उन्हें अच्छी सन्तान पैदा करना इष्ट हो तो इसी की प्रबल कामना उनके हृदयों में जागृत होनी चाहिये।

दुःख है कि गृहस्थों में संस्कार नहीं होते हैं, इसका एकमात्र कारण यह है कि संस्कार बहुत ख़र्चीले हो गये हैं। बरेली में एक बङ्गाली सज्जन श्रीपूज्य नारायण स्वामीजी महाराज की कथा में आया करते थे, वे यज्ञोपवीत नहीं धारण करते थे, स्वामीजी ने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया कि बंगाल में यह प्रथा है कि यज्ञोपवीत की तिथि नियत करने में १६ थान इत्यादि का ख़र्च होता है, एक यज्ञोपवीत में लगभग १०००) रुपया ख़र्च

होजाता है। इस पर स्वामीजी ने उनसे कहा कि वे आर्यसमाज में यज्ञोपवीत क्यों नहीं करा लेते ? स्वामीजी की बात मानकर दूसरे दिन ही उन्होंने अपना और दूसरे दो पुत्रों का आर्य-समाज मन्दिर में यज्ञोपवीत संस्कार करा लिया। वस्तुतः संस्कार तभी बन्द होते हैं जब हम उन्हें मंहगे बना लेते हैं और उन्हें मंहगे भी प्रायः अमीर लोग ही बनाते हैं। संस्कार तो कम से कम ख़र्च में होने चाहिएँ।

पर्दा

दुःख है पर्दे से हमारी जाति सताई हुई है। तपेदिक स्त्रियों को ही ज्यादा होता है और इसका कारण उनका पर्दे में रहना है। दुनिया में ऐसे भी भाग हैं जहां पुरुष पर्दे में रहते हैं। रूस में एक स्थान पर स्त्रियों का राज्य है, वहां पुरुष पर्दे में रहते हैं, क़ानून तोड़ने पर वे दण्डित होते हैं, वे घर का सब काम करते हैं, वहां स्त्रियों की बारात जाती है और स्त्रियां ही पुरुष को विवाह कर लाती हैं। अफ्रीका में एक मुसलमानी राज्य में भी ऐसी ही प्रथा है, वहाँ सब से शरीफ़ पति वह समझा जाता है जिसकी स्त्री ने उसकी सूरत न देखी हो।

सारांश यह है कि कुछ देशों में तो पुरुष पर्दे में रहते हैं और कुछ देशों में स्त्रियां। ये दो किनारों की बातें हैं। संसार के सभी स्त्री-पुरुषों को इनसे निकलना चाहिये और इन कुप्रथाओं के दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वर्ण-व्यवस्था

गृहस्थाश्रम का ठीक २ रीति से सञ्चालन हो इसके लिये यह आश्रम चार बिभागों में विभक्त किया गया है। वह चार विभाग 'वर्ण' कहलाते हैं। वर्ण का सम्बन्ध केवल वृत्ति (धन्धा, श्रम-

विभाग) से है वृत्ति का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम से है। अतः वर्ण का सम्पर्क गृहस्थाश्रम से है। अन्य तीन आश्रम वालों का कोई वर्ण नहीं होता। वर्ण चार हैं:—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वर्ण का विभाग गुण, कर्म और स्वभाव से होता है जन्म से नहीं। कर्म से आर्य्य और दस्युओं का विभाग होता है। गुण से द्विजों और शूद्रों का। स्वभाव से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का। मनुष्य भले ही विद्वान् हों। गुणवान् हों परन्तु यदि उनका व्यवहार अच्छा नहीं है, यदि वे पापी और दुष्ट हैं तो उनकी आर्य्यों में गणना नहीं हो सकती। कर्म की इस कसौटी से दुष्टों को पृथक् करके शुद्ध आर्य्यों को गुण की कसौटी से दो भागों में बांटा जाता है। इन विभागों का नाम द्विज और शूद्र है। जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या, सभ्यता और सदाचार रूपी गुणों को धारण किया है वे द्विज और जिन्होंने इन गुणों को धारण नहीं किया है वे शूद्र कहलाते हैं।

वर्णों के कर्त्तव्य

मनु ने अपनी स्मृति में इन वर्णों के जो कर्त्तव्य वर्णन किये हैं वे निम्न २ श्रेणियों में विभाजित हैं:—

(१) लोक सम्बन्धी।
(२) परलोक सम्बन्धी।

चारों वर्णों के दोनों प्रकार के कर्त्तव्य कर्म इस प्रकार हैं:—

	लोक सम्बन्धी	परलोक सम्बन्धी
१—ब्राह्मण—	वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना।	वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना।
२—क्षत्रिय—	राज्य सम्बन्धी सेवा, जिसमें देश की रक्षा आदि सभी कार्य सम्मिलित हैं।	वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना।

३—वैश्य—कृषि, व्यापार, पशुरक्षा इत्यादि। — वेद पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना।

४—शूद्र—शारीरिक श्रमसम्बन्धी कार्य जिसमें वे समस्त पेशे शामिल हैं जो शारीरिक परिश्रम से किये जाते हैं। — वेद पढ़ना, यज्ञ करना; दान देना,।

इन कर्त्तव्य कर्मों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि परलोक (ईश्वर प्राप्ति वा जन्मोन्नति) सम्बन्धी कार्य मनुष्यमात्र के लिए समान हैं उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। भेद केवल लोक सम्बन्धी कर्त्तव्य कर्मों में है या यों कह सकते हैं कि धनोपार्जन वा आजीविका सम्बन्धी कर्मों में है। वर्णाश्रमों के कर्त्तव्य कर्म यों तो आठ देख पड़ते हैं परन्तु वास्तव में ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि ये कर्त्तव्य कर्म सात ही हैं। वेद में इन कर्त्तव्य कर्मों के अनुष्ठान के सम्बन्ध में बतलाया है कि प्रत्येक कर्म व्यवस्था के साथ करने से तीन गुणा फल देने वाला होता है और इन कर्त्तव्य कर्मों के ठीक २ रीति से पालन करने से मानव जीवन श्रेष्ठ बना करता है। तथा समाज ऊंचा उठा करता है।

काम और संयम

स्त्री पुरुषों के पारस्परिक प्रेम और स्वाभाविक आकर्षण को काम कहते हैं। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक प्रेम और स्वाभाविक आकर्षण के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मनुष्य अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से अनेक योनियों में स्त्री और पुरुष शक्ति के सम्मेलन के ही द्वारा पैदा होता हुआ और उसी सम्मेलन के ही द्वारा अन्य जीवों को पैदा करता हुआ चला आरहा है। दूसरा

कारण यह है कि वीर्य्य में पड़े हुए जीवों के भोग जीवों को बाहर निकलने और नवीन शरीर धारण करने की प्रेरणा करते हैं। इन्हीं दोनों कारणों से मनुष्य रति करने के लिये विवश होता है। यह प्राणिमात्र का अनादि अभ्यास है। मनुष्य के लिये यह अभ्यास हितकर भी है और अहितकर भी। मन पर क़ाबू रखकर और आवश्यक सन्तान उत्पन्न करके उस सन्तान को मोक्षाभिमुखी बनाना हितकर और शोभा, शृङ्गार, ठाठ-बाठ के द्वारा कामुकता को बढ़ा कर अपरिमित सन्तान पैदा करना और इस प्रकार संसार में आर्थिक सङ्कट उत्पन्न कर देना अहितकर है। इस अभ्यास का हितकर पहलू अनार्य्य सभ्यता से सम्बन्धित है। आर्य्य-सभ्यता मोक्षाभिमुखी है। उसका अर्थ (भोजन, वस्त्र, घर और गृहस्थी) सादा है। उसमें शोभा, शृङ्गार, ठाठ-बाठ के लिये गुञ्जाइश नहीं। अनार्य्य सभ्यता शोभा, शृङ्गार और ठाठ-बाट से सम्बन्ध रखती है। अतः वह एक तो संसार में अर्थ-सङ्कट उत्पन्न कर देती है, दूसरे शोभा, शृङ्गार से कामुकता बढ़ा देती है और अमर्य्यादित सन्तान उत्पन्न करके अर्थ-सङ्कट को और भी अधिक भयङ्कर रूप दे देती है जिससे दुष्काल, महामारी और युद्धों का प्रचण्ड तूफ़ान उमड़ पड़ता है और सारा संसार अशान्त हो जाता है। आर्य्य-सभ्यता में 'काम' का बहुत बड़ा महत्त्व है और काम उसकी आधार शिला के स्तम्भों में से एक है। मर्य्यादित काम से अर्थ की शुद्धि होती है, अर्थ की शुद्धि मोक्ष में सहायक होती है। विना अर्थ की शुद्धि के कोई भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। इसी लिये काम का बड़ा महत्त्व है। आर्य्य-सभ्यता ने जिस प्रकार शरीर और मन को पृथक् रक्खा उसी प्रकार अर्थ और काम को पृथक् रक्खा है। शरीर और शरीररक्षा से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों तथा भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी को काम में परिणत किया है और मन और मनस्तुष्टि से सम्बन्ध रखने वाले पदर्थों तथा शोभा, शृङ्गार, ठाठ-बाट स्त्री पुत्रादि को

काम के अन्तर्गत कर दिया है। उदाहरण के लिये 'रज़ाई' वस्त्र अर्थ है और मग़जी, बेल बूटे इत्यादि काम है। देखना यह है कि हमारे पुरुषों की काम सम्बन्धी नीति क्या रही है? संसार के अनुभव से स्पष्ट है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को समय २ पर सन्तति अर्थात् जन-संख्या की अनावश्यकता, आवश्यकता और अत्यावश्यकता होती ही रहती है। जिस समय राष्ट्र और समाजों में शान्ति रहती है, उस समय मोक्ष-मार्ग के पथिकों के अलावा शेष समस्त समाज को मृत्यु के परिमाण से सन्तान की आवश्यकता रहती है। जिस समय युद्ध जारी हो जाता है वा समाप्त हो जाता है उस समय सन्तान की आवश्यकता बेहद बढ़ जाती है। इसी प्रकार जिस समय सुख शान्ति के कारण सन्तान बेहद बढ़ जाती है, उस समय सन्तान के कम करने की आवश्यकता बढ़ जाती है। ऐसी दशा में इच्छानुसार अधिक सन्तति उत्पन्न करने या कम सन्तति उत्पन्न करने या बिल्कुल ही सन्तति उत्पन्न करना बन्द कर देने की शक्ति ही उसी में हो सकती है जिसकी सामाजिक शिक्षा की दीवार अखण्ड ब्रह्मचर्य्य-व्रत पर आश्रित हो। आर्य्य सभ्यता का भवन इसी व्रत पर खड़ा किया है। इसी लिये आर्य्य सभ्यता के अनुसार आर्य्यों को ब्रह्मचर्य्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के ७५ वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य्य दशा में ही बिताने के लिये जोर दिया गया है और गृहस्थ को भी अधिक रति से बचने के लिये यज्ञोपवीत-संस्कार सन्ध्योपासन, प्राणायाम, शृङ्गार वर्जन, सादगी, तपस्वी-जीवन और मोक्षमार्ग का ध्येय बतला कर अमोघ वीर्य्यत्व सम्पादन करने का उपदेश किया गया है। क्योंकि सन्तति-निरोध की शक्ति अमोघ वीर्य्य पुरुष में ही हो सकती है और वही आवश्यकतानुसार एक, दो अथवा दश सन्तान उत्पन्न कर देना एकदम बन्द कर सकता है। इस प्रकार आर्य्य-सभ्यता में प्रजोत्पत्ति के तीन सिद्धान्त स्थिर किये हैं। इन तीनों में पहला सिद्धान्त यह है कि विशेष-विशेष व्यक्ति

आजन्म ब्रह्मचर्य्य-व्रत पालन करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि सामाजिक सुविधा उत्पन्न करने और जीवों को मनुष्य शरीर में लाकर मोक्षाभिमुखी बनाने के लिये सब को एक एक सन्तान उत्पन्न करना चाहिए। तीसरा सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रीय आवश्यकताओं के समय एक से अधिक अर्थात् अनेक सन्तान उत्पन्न करना चाहिए। इन तीनों सिद्धान्तों को 'अमोघ-वीर्य्यत्व' से ही रक्षा सम्भव है। इस शक्ति के उत्पन्न होने से ही कामवासना अपने वश में रहती है। आर्य्य-इतिहास में इन तीनों सिद्धान्तों की रक्षा के उज्ज्वल प्रमाण हैं। अमोघ-वीर्य्यत्व की शक्ति प्राप्त करने के लिये शृङ्गार वर्जित, सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाना पड़ता है। परन्तु योरोप के विद्वान् शृङ्गार मण्डित अवस्था में ही केवल यन्त्रों के सहारे सर्वसाधारण से सन्तति-निरोध कराना चाहते हैं, इस लिये यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे कभी त्रिकाल में भी सुखपूर्वक सन्तति-निरोध नहीं कर सकते क्योंकि चिकित्सा तथा नैतिकता की दृष्टि से ऐसा करना घातक और पाप है। कामवासना के विरोध या संयम से ही यह प्रश्न हल हो सकता है। कामवासना का निरोध शृङ्गार वर्जित सादे मोक्षाभि-मुखी अमोघ-वीर्य्यत्व से ही हो सकता है, दूसरों से नहीं। काम का सीधा सम्बन्ध मन से है। काम्य अभिलाषा मन से उत्पन्न होती है और यही अभिलाषा काम्य पदार्थों और काम्य कर्मों में रत रहती है। मन बड़ा चञ्चल है। उसमें अनेकों जन्म के संस्कार हैं। यही कारण है कि निरङ्कुश मन जन्म, मरण वाले कर्मों की ही ओर दौड़ता है और रति-प्रधान काम्य पदार्थों में ही लिपटता है। वह विलास आमोद-प्रमोद और ईर्ष्या द्वेष को बढ़ा देता है और मनुष्य को हर प्रकार से पतित कर देता है। यही कारण है कि सारी राज-नीति और समस्त धर्म्म-शास्त्र मानसिक ज़रूरतों को मर्य्यादित कराने के ही क़ायदे बनाते हैं। क्योंकि पाप, पुण्य, धर्म्म, अधर्म्म, सभ्यता,

असभ्यता और लोक-परलोक सब मन के ही अधीन हैं। मनुष्य से जब कभी असावधानी होती है तो वह मन के ही कारण होती है। इसलिये मन से सावधान रहना चाहिए। मन की पवित्रता धर्म्म अर्थात् बुद्धि और ज्ञान से सम्भव है और उसकी स्थिरता ऋतम्भरा प्रज्ञा के उदय होने से सम्भव है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अमोघ-वीर्य्यत्व, प्राणायाम और प्रणव-जप तथा समाधि से सम्भव है। मन के स्थिर होते ही काम ऋतम्भरा प्रज्ञा में भस्म होने लगता है। परिणाम यह होता है कि रति को इच्छा एकदम मन्द हो जाती है और उससे अधिक सन्तान नहीं उत्पन्न होती। इस विषय की खोज करते हुए वैज्ञानिक 'हर्बर्ट स्पेन्सर' ने अपने "प्राणिशास्त्र के तत्त्व" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि—"जितनी ही मानसिक शक्ति बढ़ती जायगी उतनी ही प्रजोत्पादक शक्ति न्यून होती जायगी।" इसलिये सन्तति-निरोध के लिये मन का संयम अत्यावश्यक है और 'संयम' का उपरोक्त आदर्श सर्वोत्कृष्ट आदर्श है।

आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण केवल लोगों के मन ही हैं। मनुष्यों के निरङ्कुश मनों ने अपनी कामनाओं को इतना अधिक अमर्य्यादित कर दिया है कि प्रायः समस्त जन-समाज काम्य पदार्थों का दास बनकर कामी और विपयी बन गया है। आज अनार्य्य सभ्यता वीर्य्य रक्षा की अवहेलना करके काम को उत्तेजना देने के लिये असाधारण सम्पत्ति का आश्रय लेकर और विलास अर्थात् शृङ्गार में फँसकर व्यर्थ वीर्य्यपात का प्रबन्ध करती है और लोगों को कामी बनाकर उन्हें पतित कर रही है। इस सभ्यता के अर्थ और काम को एक में मिला देने से ही यह व्यवस्था उत्पन्न हुई है।

संयम के जिस आदर्श की ऊपर चर्चा की गई है, वर्त्तमान में उसकी पूर्त्ति असम्भव नहीं तो दुरुह अवश्य है। इसका कारण

अनार्य्य सभ्यता का दुष्प्रभाव, लोगों का अधार्मिक जीवन, सामाजिक दुरवस्था और मानसिक गुलामी है। अनार्य्य सभ्यता का एक दुष्प्रभाव लोगों की इस घातक धारणा में व्यक्त हो रहा है कि खाना पीना और मौज उड़ाना ही जीवन का चरम उद्देश्य है। लोग इसी धारणा से प्रेरित हो अर्थ और काम, धन और स्त्री में आसक्त हो रहे हैं और अशान्त तथा असंयमित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अधार्मिक जीवन लोगों की इस धारणा में व्यक्त हो रहा है कि स्त्री पुरुष की कामक्रीड़ाओं, मनोरञ्जन और कामवासना की पूर्त्ति के लिये ही है। प्रायः हमारे दफ़्तरों के बाबू तथा अन्य कामकाजी लोग इस धारणा के वशीभूत हो दिनभर के थके मांदे घर लौटते हैं और इस प्रकार के मनोरञ्जन में रत हो जाते हैं। यहाँ तक विकारों का सम्बन्ध है हमारी सामाजिक दुरवस्था अत्यन्त भयङ्कर है। यद्यपि हमारा समाज इन दिनों प्रगतिशील है तथापि इस में सुधार की भी बड़ी गुञ्जाइश है। अभी भी इसमें विकार का साम्राज्य है और इस विकार के लिये हमारी सोसाइटियां, हमारा साहित्य, हमारा मनोरञ्जन, हमारा खान पान ज़िम्मेदार है। अधिकांश में हम जिस समाज से मिलते जुलते हैं वह चरित्रवान् व्यक्तियों का नहीं होता वरन् निकृष्ट श्रेणी के व्यक्तियों का होता है जिनके संसर्ग से हम मानसिक कमज़ोरी के कारण भयङ्कर व्यसनों के शिकार और पथ भ्रष्ठ हो जाते हैं और हमारे विकारों की सन्तुष्टि के लिये खुली छुट्टी मिल जाती है। हमारा साहित्य भी इन विकारों के उत्तेजन के लिये कम ज़िम्मेवार नहीं है। आध्यात्मिक साहित्य को छोड़कर हमारा अधिकांश संस्कृत साहित्य अश्लील है, नायक-नायिकाओं के उन्माद-कारी प्रेम से परिपूर्ण है। हमारे हिन्दी साहित्य की कुछ न पूछिये। हमारा मध्यकालीन प्राकृत साहित्य बड़ा भयानक है। इस साहित्य पर विचार करते हुए 'भारत में व्यसन और व्यभिचार' नामक ग्रन्थ में लेखक ने इन सुन्दर शब्दों में प्रकाश डाला है:—

"मालूम होता है इस साहित्य की रचना करते समय रचयिताओं को निर्दोषचित्त युवकों का ख़याल ही नहीं रहता था। वे अपनी रचनाएँ प्रायः गृहस्थों के मनो-विनोद और कालयापन के लिये बनाते थे और अपने विकारों को सह्य बनाने के लिये समाज के सुरुचि-सम्पन्न अन्तःकरणों की भर्त्सना से बचने के लिये परमात्मा पर अपने विकारों का आरोप करते थे। श्रीकृष्ण और उनकी अनन्य भक्ता राधा के प्रति उन्होंने कितना अन्याय किया है? आज उनकी मूक आत्माएँ हमें इस घृणित पाप के लिये कितना शाप देती होंगी और कितना शाप देती हैं? हिन्दू-जाति की वह आत्मा जो इन विकारमय वर्णनों से उत्साहित हो अपने विकारों को सह्य और क्षम्य समझने लग गई। हमारी वर्त्तमान कायरता, विलासिता तथा गुलामी के लिए क्या ये विकार और विलासिता का कायर वायुमण्डल बनाने वाले काव्य ग्रन्थ कम ज़िम्मेदार हैं?

और अब उनके अधूरे काम को हमारे आजकल के मासिक तथा साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाएँ और उपन्यासपूर्ण कर रहे हैं। लोकशिक्षा के ऊँचे स्थान से उतर कर जनता के अधम विकारों को उत्तेजित करके वे लोक कल्याण करने का दावा कर रहे हैं। इनके मुख पृष्ठों पर तथा भीतर सुन्दर कामनियों के लुभाने वाले चित्र होते हैं। सन्तान-शास्त्र दम्पति-रहस्य, गृहस्थ धर्म्म आदि के नाम पर कोकशास्त्रों को भी लज्जित करने वाली भाषा में स्त्री पुरुषों के विषय की विकारोत्तेजक बातें लिखते हैं और ऐसे साहित्य का प्रचार करते हैं जो ब्रह्मचर्य्य का तो दूर, गृहस्थ धर्म्म का भी अपमान करता है। क्या यही साहित्य हमें कल्याण की ओर ले जायगा?"

हमारा मनोरञ्जन कम दूषित नहीं है। आज सिनेमा और नाटक हमारे ख़ास मनोरञ्जनों में से हैं। जितना प्रचार इन दिनों सिनेमाओं का हो रहा है और जनता जितनी उत्सुकता से सिनेमाओं की ओर अग्रसर हो रही है शायद उतनी उत्सुकता से अन्य किसी चीज़

की ओर अग्रसर नहीं हो रही है। इन सिनेमाओं और नाटकों में दिखाये जाने वाले अश्लील चित्रपट और अभिनय, भद्दे मज़ाकों, घृणित संवादों, कुत्सित प्रदर्शनों, कलाशून्य नृत्य और गान.से विकारों को उत्तेजित करते और जन-समाज में कुरुचि उत्पन्न करके जन-समाज को हर प्रकार से पतन की ओर लेजा रहे हैं। हमारा खान-पान अत्यन्त गरिष्ठ और अस्वाभाविक है। तीखे मिर्च, मसाले, इत्यादि के विना हमारे भोजन नीरस हैं, अस्वादिष्ट हैं। दिल खोल कर इन उत्तेजक पदार्थों का खाद्य पदार्थों में प्रयोग किया जाता है। हलुवा, पूरी इत्यादि बहुत से ऐसे गरिष्ठ और भारी पदार्थों का सेवन किया जाता है जो काम-वासना को सहज ही में उद्दीप्त कर देते हैं। हम खाने के लिये जीते हैं न कि जीने के लिए खाते हैं, इसका एक परिणाम यह होता है कि हम विषय की ओर जल्दी और ज्यादा अग्रसर हो जाते हैं।

मानसिक गुलामी के कारण हम विषय से बचने का यत्न करते हुए भी बच नहीं पाते और काम-वासना की तृप्ति में प्रवृत्त हो ही बैठते हैं।

सन्तति-निरोध के समर्थकों का कहना है कि जन-साधारण के लिये संयम की चर्चा करना व्यर्थ है। क्योंकि संयम के लिये बड़े ज्ञान और मनोबल की आवश्यकता है। भले ही इने-गिने व्यक्ति इसका पालन कर सकें परन्तु सर्वसाधारण नहीं कर सकते। ठीक, पर किसी काम के कठिन होने भर से उसे छोड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं है, श्रेयोमार्ग सदैव कठिन होता है और पतन का मार्ग हमेशा ढालू और सुगम होता है। इसलिये संयम को असाध्य और कठिन कह कर उसको छोड़ देना और उसके लिये यत्न न करना उचित नहीं। अवश्य ही उसके लिये यत्न करना चाहिए और उन प्रभावों से जिन पर ऊपर किञ्चित् प्रकाश डाला गया है, अपने को ऊपर रखना चाहिए और उसके ऊँचे से ऊँचे आदर्श तक पहुँचने का यत्न करना

चाहिए। संयमी जीवन के लिये आवश्यक है कि हमारा मिलने जुलने वाला समाज अच्छा हो. हम सात्विक साहित्य पढ़ें। हमारे विनोदस्थल अच्छे वातावरण से परिपूर्ण हों और हम खान-पान में संयत हों। हम सदैव सत्पुरुषों और चरित्रवान् लोगों की ही संगति करें। हम सात्त्विक साहित्य को पढ़ें और उन पुस्तकों, उपन्यासों और अखबारों को पढ़ना छोड़ दें जिनके पढ़ने से हमारी कुवासनाओं को उत्तेजना मिले। हमें सदैव उन्हीं ग्रन्थों को पढ़ना चाहिए जिनसे हमारे मनुष्यत्व की रक्षा तथा पुष्टि हो। हमें सिनेमा और नाटकों से दूर रहना चाहिये। मनोरञ्जन तो वह है जिससे हमारे चरित्र का पतन न होकर उसके द्वारा वह एक अच्छे साँचे में ढल जाय। हमें भोजन स्वाद-तृप्ति के लिये नहीं बल्कि क्षुधातृप्ति के लिये करना चाहिये। हमें उत्तेजक पदार्थों से दूर रहना चाहिए। सब से बढ़कर पत्नी को हमें सहधर्मिणी समझना चाहिए, विषयतृप्ति का साधन नहीं।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री और पुरुष में आज दिन बराबरी के लिये एक प्रकार का युद्ध सा छिड़ा हुआ है। फलतः, यह दोनों के सम्बन्ध का परिवर्त्तन काल (Transition period) है।

परिवर्त्तन काल में हमारे सामने का मार्ग बहुधा स्पष्ट नहीं रहता, उसमें एक प्रकार का कोहरा सा छाया रहता है। इस कोहरे को भेद कर ठीक मार्ग पहचानने का काम बहुत कम लोग कर सकते हैं। इसलिये इस काल में बहुत से लोग भटक कर गलत रास्ते पर जा खड़े होते हैं। यह समय खूब सोच विचार कर चलने का है। मार्ग निश्चित करने में थोड़ा समय नष्ट करना उतावली में पड़कर गलत रास्ते पर जा पहुंचने की अपेक्षा कहीं श्रेयस्कर है।

बराबरी का यह अर्थ कभी नहीं होता कि अगर आपका जोड़ीदार काणा है तो आप भी अपनी एक आँख फोड़ डालिये। इसलिये सब से पहली बात यह है कि हम बराबरी का अर्थ ठीक-ठीक समझलें। आज कल बराबरी का अर्थ समझने में भी भारी गड़बड़ी मची हुई है।

एक सिंहासन पर बैठे हुए दो व्यक्तियों में भी कुछ न कुछ अन्तर रहता है। एक का जो बायां हाथ है दूसरे का वही दाहिना हाथ है। वास्तव में इस संसार में ही दो आदमी या दो वस्तुएँ पूर्ण रूप में बराबर या समान हो ही नहीं सकती।

स्त्री और पुरुष में जहाँ मनुष्यता की दृष्टि से बात आ पड़े वहाँ तो हम उन्हें अवश्य ही बराबरी का स्थान देने के लिये तैयार हैं। मनुष्यता के विचार से इस संसार में दोनों का स्थान बराबर है। कोई एक दूसरे से छोटा या बड़ा नहीं, दोनों एक ही आत्मा के प्रकाश हैं, दो पहलू हैं, लेकिन दोनों के कार्य्यक्षेत्र अलग २ हैं, दोनों के धर्म्म एवं प्रकृति में अन्तर है।

वर्त्तमान में तो हमें प्रचलित प्रकृति के सामने सिर झुका कर, उसकी व्यवस्था स्वीकार करनी पड़ेगी और पुरुष के लिये योग्य पिता तथा स्त्री के लिये योग्य माता बनने का साधन जुटाना होगा।

एक दल इस विचार का भी है कि स्त्रियाँ सन्तान तो उत्पन्न अवश्य करें, लेकिन क्या हानि है यदि पुरुष सन्तान के लालन-पालन में अधिक समय बितावें, किन्तु यह विचार भी ठीक नहीं।

सन्तान को दूध पिलाने की व्यवस्था पुरुष से न होगी। इसके अलावा सन्तान पालन में जिस प्रेम की आवश्यकता है, वह प्राकृतिक नियम के अनुसार माता में पिता की अपेक्षा अधिक हैं।

एक तीसरी बात और भी है, यदि पुरुष सन्तानपालन के लिये घर में रुक जाय तो रोज़ी कौन कमाये ? क्योंकि गर्भादि कारणों के कारण स्त्रियाँ इसे कर नहीं सकतीं।

शिक्षा के सम्बन्ध में भी हमें इस नियम को ध्यान में रखना होगा। मनुष्यता के नाते यह मान लेने पर भी दोनों बराबर हैं, तथा दोनों को शिक्षा पाने का समान अधिकार है। हमें उसी शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी जिससे पुरुष योग्य पिता बन सके, धनोपार्जन कर सके तथा स्त्री योग्य गृहणी एवं माता बने।

यहां हम पुरुषों की शिक्षा का विचार न करेंगे, करेंगे केवल स्त्रियों का; लेकिन यह आवश्यक होगा कि हम प्रचलित प्रणाली की समालोचना करते हुए यह देखलें कि उसका पुरुषों पर क्या असर हुआ है।

यह बात प्रायः निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि विदेशी शासन द्वारा दी जाने वाली शिक्षा हमें मनुष्य नहीं बना रही है। हमारे मानवी गुणों का विकाश नहीं कर रही है। वरन वह हमारी राष्ट्रीय विशेषताओं को, हमारे अपनेपन को, वास्तविकता को धीरे २ गिरा रही है। एक बात और है। बालकों को दी जाने वाली आजकल की शिक्षा में प्रधान दोष यह है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा की अपेक्षा शुरू में ऊंची शिक्षा का आयोजन अधिक है।

राष्ट्रीय सम्पत्ति अथवा प्रबन्ध का यदि सब का समान अधिकार मानलिया जाय तो यह मानना होगा कि न्याय की दृष्टि से पहिली बात तो यह ज़रूरी है कि सब के लिये प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध होने के बाद यदि द्रव्य बच जाय तो माध्यमिक शिक्षा तथा उसके बाद सुविधा होने पर, तब कहीं ऊंची शिक्षा का नम्बर आना चाहिये।

ऊंची शिक्षा से एक दूसरी हानि यह भी है कि जितने लोग ऊंची शिक्षा प्राप्त कर निकलते हैं उनके लिये हम काम नहीं दे सकते।

सुधारक चाहे कितना ही वावेला मचावे पर ऊंची शिक्षा प्राप्त कर लोग मोची, धोबी आदि का छोटा काम करना स्वीकार न करेंगे।

लेकिन राष्ट्र को तो हर तरह की ज़रूरतें हैं। उसे तो मोची भी चाहिएं, चमार भी चाहिएं और भङ्गी भी चाहिएं। वर्त्तमान शिक्षा राष्ट्र में यह असाम्य ला रही है जिससे प्रत्येक देशों के लोगों में असन्तोष फैल गया है।

प्रत्येक आदमी शिक्षा के लिये दौड़ता है जिससे सभी देशों में योग्य मनुष्यों की कमी हो रही है और शिक्षितों में बेकारी के कारण असन्तोप बढ़ रहा है।

आजकल की ऊंची शिक्षा का यह भी दोष है कि जो जितनी शिक्षा ग्रहण करेगा गुज़र के लिये उसे उतना ही अधिक द्रव्य चाहिये। पर प्रश्न यह है कि द्रव्य आयेगा कहाँ से?

स्त्री-शिक्षा पर आयोजन करते समय हमें इन गलतियों से बचने का यत्न करना होगा। लेकिन हमारे कहने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि स्त्रियों के लिये ऊंची शिक्षा की मनाई रहे।

इसके अतिरिक्त कई कामों के लिये तो उच्च शिक्षा प्राप्त महिलाओं की बड़ी आवश्यकता है मसलन स्त्रियों की शिक्षा के लिये ही प्रोफ़ेसर चाहियें लेकिन किसी राष्ट्रीय आयोजना के समय हमें अपवादों पर नहीं, वरन साधारण बातों पर दृष्टि रखनी चाहिये। हमें ऊंची शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी, परन्तु ध्यान रखना होगा कि अधिकांश बालिकाओं को साधारण (प्राथमिक तथा माध्यमिक) शिक्षा की आवश्यकता है। एम० ए० डाक्टर बनने की नहीं। स्त्रियों के लिये देशी भाषा में ही शिक्षा होनी चाहिये।

एक तो साधारणतः विदेशी भाषा में दक्षता प्राप्त करने की उनके लिये जरूरत ही नहीं, दूसरे जब हम इस बात को भी मान चुके हैं कि बालकों को विदेशी भाषा का माध्यम हानि पहुँचा रहा है तब बालिकाओं के ऊपर यह भार लादने से क्या लाभ ? हां ! अवश्य ही जिन महिलाओं को अंग्रेजी में खास दखल रखने की इच्छा हो वे इसको अलग विषय लेकर पढ़ें ।

अब रही विषय की बात—

बालिकाओं को कौन २ विषय पढ़ने पर जोर दिया जाय, यह विषय उपरोक्त सिद्धान्त को मान लेने पर गौण एवं सरल हो जाता है। इस पर मतभेद भी अधिक न होगा, अगर होगा भी तो आगे चलकर एक राह निकल आयेगी। साधारणतया पर बालिकाओं के लिये धर्म, मातृभाषा, गृह-विज्ञान, धात्री-विद्या, संगीत, गणित, चरित्रगठन एवं व्यायाम ये विषय आवश्यक होंगे। गौण विषयों में जिनमें एक या दो लेना चाहिये इतिहास भूगोल तथा और दो विषय रख दिये जायेंगे।

बच्चा

सम्पत्ति अथवा स्वतन्त्र शक्ति

मनुष्य जाति की शिक्षित और अशिक्षित जातियों का बच्चे के प्रति जो व्यवहार रहा है उससे प्रकट है कि पैत्रिक प्रेम शताब्दियों से विकसित होता चला आरहा है और वर्तमान में बच्चों की शिक्षा और उनके कल्याण और सुधार की दिलचस्पी की उग्रता के अध्ययन से भी स्पष्ट है कि निकट भविष्य में पैत्रिक प्रेम और भी ज्यादा विकसित होगा।

जंगली जातियों के बच्चों के प्रति रुख को ध्यान में लाना भी दुखदायी है। यह रुख निर्दयता की करुण कहानी है। इस निर्दयता

को समझने के लिये हमें याद रखना चाहिए कि बच्चा माता-पिता की मिल्कियत समझा जाता था और इसलिये माता-पिता अपनी अन्य सम्पत्ति के समान उसका जो चाहते थे बनाते थे।

न्यू गाइना के पापुआं लोग अपने बच्चों को मारकर खा जाते हैं। आस्ट्रेलिया की कुछ जंगली जातियों में यह रिवाज़ है कि माता अपने पहले बच्चे को मारकर खा जाती है। उनका विश्वास है कि बाद को बच्चों के प्रसव के लिये ऐसा करने से माता मज़बूत हो जाती है।

१७९३ ई० के दुर्भिक्ष में जापान में बच्चे मारे तथा खाये गये थे।

कुछ जातियों में दुर्भिक्ष तथा आर्थिक सङ्कट की अपेक्षा बच्चों के मारे तथा खाये जाने के लिये धर्म ज़्यादा ज़िम्मेवार रहा है। आदि कालीन इसराइल लोग अपने पहले बच्चे की बलि चढ़ा देते थे और देवता पर बलि चढ़े हुए बच्चे को वे लोग खा जाया करते थे।

भारतवर्ष में बच्चे की बलि

भारतवर्ष में अभी कुछ वर्षों तक पहले बच्चे का गङ्गा की भेंट चढ़ाने का रिवाज था। आज भी यह प्रथा भूतकाल की यादगार के रूप में रूढ़ि के रूप में बड़े पैमाने पर जीवित है और बड़े मेलों के अवसर पर देखी जासकती है। पीले कपड़े पहने हुए बच्चा माता-पिताओं के द्वारा गङ्गा में फेंका जाता है। निस्सन्देह पण्डा बच्चे को डूबने नहीं देता है और कुछ नक़दी लेकर गङ्गा के प्रतिनिधि की हैसियत में बच्चे को माता-पिता को वापस कर देता है।

देवी देवताओं को बच्चों की बलि चढ़ाए जाने की बात सर्वथा भूतकाल की वस्तु नहीं है। बच्चों की धार्मिक बलि के वास्तविक समाचार अब भी कभी-कभी प्रकाश में आते रहते हैं। बच्चों के मारे

तथा खाये जाने से कम भयङ्कर बच्चों के वध की प्रथा है। बच्चों के वध का सब से प्रबल हेतु भोजन की कमी के कारण से आबादी को कम करने की आर्थिक जरूरत थी।

बाल हत्या सब प्रकार के हीले-बहानों से व्यापक रूप में प्रचलित रही है। अफ्रीका में नवजात बच्चों को दाँतों से मार दिया जाता था। मैडागास्कर में यदि कोई बच्चा वर्षा या तूफ़ान के अवसर पर पैदा होता था तो वह मार दिया जाता था। बसुटी नामक जाति में यदि बच्चा पैरों के बल, बांडई जाति में सिर के बल पैदा होता था तो मार दिया जाता था। इन सब बहानों के मूल में माता-पिता की दुर्बल भावना ही देख पड़ती है, जिसके वशीभूत होकर माता-पिता बच्चे को अवांछनीय भार समझते हैं।

युद्धप्रिय जातियों में बच्चियों की बलि चढ़ाई जाती रही है। शादी के अवसर पर भारी दहेज़ से बचने के लिये प्रायः लड़कियां मार दी जाती थीं।

लड़की का कितना कम मूल्य था, यह बात फ्रैंक्स के कानून से भली भांति जांची जासकती है। इस कानून के अनुसार बालहत्या का दण्ड केवल जुर्माना था। १२ वर्ष की उम्र से कम की लड़की की हत्या का दण्ड २०० साउस (सिक्का विशेष) था और १२ वर्ष की उम्र के बाद ६०० साउस था।

चीन में बालहत्या बहुत प्रचलित रही है। १६५९ में लड़कियों को डुबाने की प्रथा के विरुद्ध शाही फ़रमान जारी हुआ था।

बच्चा सौदे की वस्तु

बालहत्या के बाद दूसरी निर्दयी प्रथा नफ़े के लिये बच्चों के बेचने की प्रथा है। प्राचीन रोम के क़ानून ने पिता को अपने बच्चों

के ऊपर पूर्ण अधिकार दिये हुए थे। वह उन्हें मार या बतौर गुलाम के बेच सकता था। प्राचीन स्मेरियन में बच्चों की बिक्री जायज़ और बहुत प्रचलित थी।

आर्थिक कारणों के कारण लड़कियों ने अपने माता-पिता के द्वारा बहुत कष्ट सहन किये हैं। यदि आर्थिक दृष्टि से माता-पिता के लिये लड़कियाँ बेकार होती थीं तो वे मार दी जाती थीं और यदि वे किसी मतलब की होती थीं तो वे वेश्यावृत्ति अथवा दूसरों की पत्नी बनने के लिये बेच दी जाती थीं। इस पर भी मुझे आश्चर्य है कि अपनी लड़कियों को देवदासियों के रूप में अर्पण करने वाले माता-पिताओं को कोई लाभ होता है या नहीं?

योरुप में ७वीं शताब्दी के अन्तिम चरणों तक बच्चे अन्न प्राप्ति की आवश्यकतावश बेच दिये जाते थे और बिक्री के लिये बच्चे चुराये भी जाते थे। १६वीं और १७वीं शताब्दी में योरुप में बच्चे सड़क के दांये बांये छोड़ दिये जाते थे या कूड़े करकट में फेंक दिये जाते थे। उससे भी बुरी प्रथा भिखमङ्गों के रूप में व्यवहृत होने के उद्देश्य से बच्चों को कुरूप बना देने की थी।

इसके बाद हम बच्चों को काम पर लगाने के काल पर आते हैं।

योरुप में फैक्टरियों में बच्चों को २०-२० घण्टे तक प्रति दिन काम पर लगाया रक्खा जाता है। यदि वे भाग जाते थे तो पकड़े जाने पर पीटे जाते थे और यहाँ तक कि उनके पैरों में जंजीर डाल दी जाती थीं। वे बड़े भयङ्कर अस्वास्थ्यकर स्थानों में रक्खे जाते थे और उनकी मृत्युसंख्या बहुत बढ़ी चढ़ी थी।

नैपोलियन ने १८११ ई० में असहाय, परित्यक्त और अनाथ बच्चों के सम्बन्ध में राज्य के कर्त्तव्य निश्चित किये थे। यह आन्दोलन जारी रहा और वर्त्तमान वर्षों में इसने बहुत उन्नति की है। अब बच्चों

पर माता-पिता का वह अधिकार नहीं है जो पहले रह चुका है। अब यद्यपि माता-पिता का उनके ऊपर संरक्षण है किन्तु इस संरक्षण के द्वारा उन पर अमानुपिक अत्याचार नहीं हो सकते हैं। बच्चों द्वारा मेहनत मजदूरी अब बिल्कुल निषिद्ध करार दे दी गई है, यदि आज्ञा है तो कतिपय अस्वास्थ्यकर गन्दे और अति परिश्रम के कार्य वर्जित हैं। उनकी देख-रेख और रक्षण के लिये माता-पिता जिम्मेवार ठहराये गये हैं। उनका प्रारम्भिक शिक्षण भी अनिवार्य होता जारहा है।

बच्चों के रक्षण के प्रति विशेष मनोयोग

आज कल बच्चे अपने कृत्यों के लिये पूर्णतया जिम्मेवार नहीं समझे जाते हैं और इसीलिये उनके कृत्य जवानों के कृत्यों जैसे दण्डनीय नहीं हैं, बच्चों के अपराधों के विचार के लिये विशेष अदालतों की सृष्टि हुई है, मैडिकल स्कूलो में बच्चों की बीमारियों के लिये गद्दियां स्थापित हैं। मनोविज्ञान ने एक विभाग को विकसित करके बच्चों के दिमाग़ के अध्ययन के लिये सुरक्षित कर दिया है। सार्वजनिक क्रीड़ा-क्षेत्र, बच्चों के खेलने के अधिकारों की स्वीकृति की सूचना दे रहे हैं। बच्चों की शिक्षा और उनके मानसिक विकास के सम्बन्ध में बहुत सी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और लिखी जा रही हैं। बच्चे की बुद्धि का वैज्ञानिक परीक्षण किया जा चुका है। उनके मनोरंजनों और रुझानों का ठीक २ अध्ययन कर लिया गया है।

उनके जीवन से थकान और रूक्षता दूर की जारही है। वर्त्तमान शताब्दी 'बच्चे की शताब्दी' के नाम से पुकारी जारही है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है।

हम उस नूतनता की कल्पना कर सकते हैं जो बच्चों के प्रति माता-पिता के प्रेम में आने वाली है। निकट भविष्य में माता-पिता अपने बच्चे को न सम्पत्ति ही समझेंगे और न कुत्ते बिल्ली ही

समझेंगे, बल्कि एक सत्ताधारी जीव समझेंगे जिसका अपना व्यक्तित्व होगा। माता-पिता अपने बच्चे के बचपन के मनोविज्ञान का अध्ययन करना अपना ज़रूरी कर्त्तव्य समझेंगे और अध्ययन के परिणामों के प्रकाश में बच्चे के प्रति अपने सम्बन्ध निश्चित करेंगे जिससे कि बच्चा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लाभों से निश्चिन्त होजाय और बाद में दिमाग़ और शरीर दोनों के विकास और स्वास्थ्य के भोग के लिये भी निश्चिन्त होजाय।

साम्यवाद

पिछले कुछ समय से साधारणतया यूरोप और विशेषतः रूस के जन-साधारण के कल्याण और अभ्युत्थान की विविध स्कीमें संसार के कौतूहल और आश्चर्य का विषय रही हैं और इस समय भी हैं। रूस की विविध सफल स्कीमें संसार के चमत्कारों में परिगणित हो रही हैं। उन चमत्कारों के मूल में काम करने वाली उसकी 'साम्यवाद' की स्कीम है। यूरोप में मुख्यतया रूस में 'साम्यवाद' साम्राज्यों, साम्राज्यवादियों एवं पूंजीपतियों के घोर अत्याचारों और अनाचारों की प्रतिक्रिया के रूप में जनसमाज के सामने आया है। इसका रूप यद्यपि अभी तक निश्चित नहीं हो पाया है, अभी भी इसके सम्बन्ध में यूरोप के विज्ञ समाज में मतैक्य नहीं है तथापि इसके सम्यक् अध्ययन से इतना स्पष्ट ही है कि यह वाद आर्थिक है। इसकी दृष्टि जन-साधारण की भौतिक उन्नति तक है, आमोद-प्रमोद और विलास की समता तक है। या यों कहिये कि आर्थिक असमानताओं के निराकरण तक है। युरोपीय देशों मुख्यतया रूस की विलासिता और कामुकता को प्रोत्साहित करने तथा बढ़ाने वाले शृङ्गारिक पदार्थों की बढ़ती हुई तैयारी और उनके द्वारा जनता के धन के अपहरण और अपहरण की चेष्टाओं तथा संघर्ष से साम्यवाद का उनका उपर्युक्त दृष्टिकोण भली प्रकार स्पष्ट हो रहा

है। उनके दृष्टिकोण में बड़ी त्रुटियाँ हैं। जैसे—संसार में आर्थिक समानता सोना, चाँदी, हीरा, मूंगा, मोती इत्यादि सम्पत्ति तथा विलास की सामग्री का समान बंटवारा कभी सम्भव नहीं क्योंकि संसार में पदार्थ इतने हैं ही नहीं कि जो समान रूप में सब में बांटे जासकें, समाज में और विश्व में शान्ति और सुख का प्रसार 'साम्यवाद' का उद्देश्य होता है। विलासिता और कामुकता से जीवन की अशान्ति, प्रतियोगिता, दुःख, द्वेष, कलह, झगड़े, चोरी और व्यभिचार प्रवाहित होते और आश्रय पाते हैं। इनसे लोगों को शान्ति प्राप्त हो ही नहीं सकती। इसलिये विलास और कामुकता के पोपक युरोपीय साम्यवाद का सिद्धान्त बिल्कुल ग़लत है। साम्यवाद का एक दूसरा उद्देश्य समस्त मनुष्य, समस्त पशु पक्षी, कीट पतङ्ग और तृण पल्लव की पूर्ण आयु और पूर्ण भोगों की सुविधा करना है। इस कसौटी पर कसे जाने पर युरोपीय साम्यवाद पूरा नहीं उतरता। उसकी स्कीम में पशु पक्षियों, वृक्षों इत्यादि के लिये कोई स्थान नहीं है। पशुओं और वृक्षों की आयु भोगों पर विचार करने के लिये स्थान नहीं है और न कर्मफलों, कर्मफल के दाता, समस्त सृष्टि के सिरजनहार परमात्मा के लिये स्थान है। इसलिये युरोपीय साम्यवाद शृङ्गारिक साम्यवाद है, विलासमय साम्यवाद है और इसमें जन-समाज और विश्व को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। समानता, सार्वजनिक भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता साम्यवाद के उत्तम सिद्धान्त हैं। उनका जैसा विशद वर्णन, इनके जैसे उत्कृष्ट उदाहरण आर्य्य साहित्य और आर्य्य इतिहास में मिलते हैं वैसे कहीं ढूंढ़ने पर भी अन्यत्र नहीं मिलते। आर्य्य साहित्य के पृष्ठों में इनके सम्बन्ध में बड़ी उज्ज्वल शिक्षायें मौजूद हैं। हम पढ़ते हैं कि समस्त मनुष्यों में जन्म से न कोई छोटा है न बड़ा। व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति एक दूसरे पर निर्भर है। सब भूतों को परमेश्वर में देखो और सब भूतों के भीतर परमेश्वर को जानो। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल और

कुत्ते तक को समदृष्टि से देखो। सब भूतों को अपने समान समझो। सब प्राणियों का पिता परमेश्वर है, सब को अमृतपुत्र समझो। किसी को मन से भी दास मत बनाओ या समझो। स्वाधीनता ही सुख है, पराधीनता महादुःख है। पराये धन को कङ्कर समझो। पराई स्त्री को माता समझो। सब के पेय पदार्थ समान हों, अन्न का विभाग साथ २ हो, जिस प्रकार रथनाभि के चारों ओर अरे एक समान होते हैं उसी प्रकार सब लोग एक समान होकर यज्ञ करें। समस्त जीवों में जो मन से साम्य भाव वाले हैं वे ही परमेश्वर के प्यारे हैं। उन्हीं की सम्पत्ति सैकड़ों वर्षों तक स्थिर रहती है। सब मनुष्य समान हृदय और समान मन वाले, द्वेष रहित हों। एक दूसरे से इस प्रकार प्यार करें जैसे गौ अपने बछड़े से। वैदिक साम्यवाद की यही रूप रेखा है। कितना ऊंचा आदर्श है? कैसा अनुपम साम्यवाद है?

यह साम्यवाद धर्म्मतत्त्वों पर स्थिर है। त्यागवाद पर आश्रित है। वैदिक धर्म्मतत्त्व का रहस्य यह है कि विना अन्य प्राणियों की आयु और भोगों में कमी उत्पन्न किये स्वयं मोक्ष को प्राप्त होते हुए दूसरों के लिये ऐसा मार्ग बना देना जिससे कि वे अपनी पूर्ण आयु और भोगों को प्राप्त करते हुए इस स्थूल शरीर के द्वारा मोक्ष को सिद्ध कर सकें। ऐसा करने के लिये मनुष्य को जीवन के दो लक्ष्य बनाने पड़ते हैं। एक तो संसार से उतना ही अर्थ और काम ग्रहण किया जाय जिससे आयु के लिये भोग मिल जायँ। दूसरा त्यागी और तपस्वी जीवन के साथ सृष्टि के कारणों, आत्मा और परमात्मा का साक्षात् किया जाय। अर्थ की इयत्ता के लिये पांच बातें आवश्यक होती हैं। वे ये हैं—विना किसी प्राणी को सताए, विना स्वयं तकलीफ़ उठाए और विना स्वाध्याय में विघ्न डाले, केवल अपनी कमाई से यात्रा मात्र के लिये जो कुछ मिल जाय उसी से निर्वाह किया जाय और शेष धन दूसरों का समझा जाय। काम की

इयत्ता के लिये यह नियम है कि विना ठाठ वाठ और शोभा-शृङ्गार के, अपनी ही विवाहिता स्त्री में, केवल एक ही सन्तान उत्पन्न की जाय। ईश्वर-परायणता को लक्ष्य बनाया जाय। इस धर्म के आचरण से शृङ्गार और कामुकता की वृद्धि रुक जाती है। पशु और वृक्षों का अल्पायु में मरना बन्द हो जाता है और साम्य-भाव प्रतिष्ठित हो जाता है। आर्य्यों के त्यागवाद में यह मूल मन्त्र काम करता है कि जो कुछ दूसरे प्राणियों के भोग से बच जाय उसमें से केवल अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाह मात्र के लिये लेना चाहिये, अधिक नहीं। समस्त मनुष्यों, समस्त पशु पक्षी, कीट पतंग और तृण पल्लव की पूर्ण आयु और पूर्ण भोग की सुविधा उत्पन्न की जाय और तपस्वी जीवन के साथ २ स्वयं पूर्ण आयु जीकर मोक्ष प्राप्त करने तथा अन्य प्राणियों के लिये भी मोक्षप्राप्ति का मार्ग विस्तृत किया जाय। आर्य्यों ने अपने त्यागवाद को ब्रह्मचर्य आश्रम से शुरू किया है और वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में समाप्त किया है। आर्य्यों की आयु का $\frac{3}{4}$ भाग त्यागी, तपस्वी और ईश्वर-परायण है। बीच की आयु का $\frac{1}{4}$ भाग जो आदि अन्त में तपस्वी जीवन से जकड़ा हुआ है 'गृहस्थाश्रम' के नाम से प्रसिद्ध है। वह भी उक्त समाज के $\frac{3}{4}$ भाग को अन्न पहुँचाने में ही लगाया गया है। इसलिये वह त्यागमय ही रह सकता है। विलास और कामुकता के लिये वहाँ स्थान ही नहीं।

आर्य्यों के त्यागवाद में चोरी, व्यभिचार और कलह इत्यादि के लिये प्रोत्साहन को गुंजाइश नहीं है। सारांश में एक विद्वान् के शब्दों में आर्य्यों का साम्यवाद आस्तिकता से उत्पन्न होकर सब प्राणियों को सुखी बनाकर परमात्मा का दर्शन कराता है। यूरोप का साम्यवाद घृणित कामुकता को बढ़ा कर मनुष्यों को पतित करता है। आर्य्यों का तपस्वी और त्यागी जीवन समस्त मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों के मूल कारणों पर गम्भीरता से विचार करके और उस

विचार को धार्मिक तुला पर तोल कर सब को सब के लाभ पहुँचाते हुए सब को मोक्षाभिमुखी बनाता है और समस्त प्राणिसमूह को इस प्राकृतिक रङ्गभूमि से हटाकर आकाशस्वरूप अनन्त, परमात्मा की आनन्दमयी गोद में स्वतन्त्रता से विचरण करने की प्रेरणा करता है पर युरोप के साम्यवादी इन सब के मूल परमात्मा को ही हटा रहे हैं।

इस प्रकार के 'साम्यवाद' के सांचे में ढला हुआ समाज विश्व में विशेषतया भारतवर्ष में स्थित रह चुका है। आर्य्यों का इतिहास इस कथन का साक्षी है। इस प्रकार के साम्यवाद में प्रभु के पुत्रों ने, मनुष्य समाज ने, प्राणिसमूह ने, स्वाधीनता, सुख और शान्ति के अमृत घूंट पिये हैं। प्राणि मात्र के प्रति प्रेम के उज्ज्वल प्रकाश में सृष्टि का सौन्दर्य बढ़ा और स्थिर रह चुका है।

वैदिक सभ्यता विकसित हुई है। सुन्दरतम विश्वसाहित्य का निर्माण हुआ है, उन ऋषियों, मुनियों और तपस्वियों के आश्रमों में गृहों में जो गृहस्थी थे, बाल-बच्चे वाले थे परन्तु जो अर्थ-काम में आसक्त नहीं थे। धर्म्म और ईश्वरपरायणता और मोक्ष जिनका महान् ध्येय था। प्रश्न यह होता है कि क्या इस प्रकार का साम्य-वाद इन दिनों सम्भव है? जितने अधिक लोगों में धर्म्मतत्त्व अङ्कित होंगे और जितना ही अधिक लोगों के दिल और दिमाग़ वैदिक धर्म्म और उसके त्यागवाद से उज्ज्वल होंगे, मुख्यतया उन लोगों के जिनके हाथों में मनुष्य और पशु समाज का भाग्य निर्णय है, उतने ही अधिक इस प्रकार के साम्यवाद के प्रसार की गुंजाइश है। यदि साम्राज्य-वादी तथा पूंजीपति तथा भौतिक उन्नति से युक्त देशों में ब्राह्मण वृत्ति के लोगों का उचित सम्मान हो, प्राधान्य हो और उन्ही के हाथों में नियम आदि बनाने का कार्य हो तो सचमुच उसमें भी वैदिक साम्यवाद की किंचित झलक देख पड़ सकती है।

परमात्मा करे कि विश्व के लोग, विश्व के राष्ट्र वैदिक त्याग-वाद के रूप में अपने समाज को उसके साँचे में ढालें और संसार में सुख और शान्ति का प्रसार हो।

धर्म्म

धर्म्म का इतिहास बड़ा डरावना है। इसके असंख्य पृष्ठों पर मनुष्य की धूर्त्तता, स्वार्थपरता, लम्पटता, नीचता तथा असत्याचरण की अमिट छाप देख पड़ती है तथा उसके अनेकों पृष्ठ खून में रँगे देख पड़ते हैं। धर्म्म के नाम पर मानव-स्वभाव की हीन वृत्तियों और मनोविकारों ने संसार को खूब नाच नचाया। धर्म्म के नाम पर अनेकों मत-मतान्तरों की सृष्टि हुई। लोगों के दिलों और दिमागों पर अज्ञान और अविद्या के ताले लगे। मनुष्य, मनुष्य का शत्रु बना, आपस में लड़ा। धर्म्मयुद्ध हुए। नर-संहार और रक्तपात से सृष्टि का सौन्दर्य्य नष्ट किया गया। नर नारियों को पाशविक यातनाएँ दी गईं। उन्हें जिन्दा जलाया तथा मौत के घाट उतारा गया। लोगों में मानसिक दासता अङ्कुरित हुई, बढ़ी और पराकाष्ठा को पहुँची। जितना अकल्याण मनुष्य समाज का धर्म्म के नाम में हुआ शायद ही इतना और किसी प्रकार से हुआ हो। समय आया जब कि ऐसे खूनी और पतनकारी धर्म्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया शुरू हुई। इस प्रतिक्रिया का एक परिणाम जो आज हम देखते हैं वह धर्म्म शब्द के प्रति लोगों की उत्कट घृणा है। उन्हें धर्म्म के नाम से ही चिढ़ हो गई है। वे उसका नाम सुनते ही नाक भौंहें चढ़ाने लगते हैं। वे कहते हैं कि इस पुराने खूसट (धर्म्म) को इस नई रोशनी के युग में कहाँ लिये फिरते हो। देखो समस्त वैज्ञानिक जगत् धर्म्म की सङ्कीर्णता से निकल कर नवीन विचारों की शीतल छाया में आ रहा है। देखो धार्मिक मनुष्यों की कैसी दुर्दशा हो रही है। ऐसी दशा में फिर उसी धर्म का नाम लेकर सुलझे हुए विचारों में

सुलभन पैदा करना ठीक नहीं है। धर्म के प्रति इस प्रकार की घृणा और उपेक्षा के लिये मतमतान्तरों के कुप्रभाव, उनके कटु अनुभव और झगड़े तथा जनता की सच्चे धर्म की अनभिज्ञता ही सबसे ज्यादा जिम्मेवार हैं। उनके प्रकाश में लोगों के उपर्युक्त कथन और धारणायें ठीक हैं परन्तु क्या वैज्ञानिक उन्नति से लोगों को सुख-शान्ति मिली ? इसका उत्तर नकार में है। विज्ञान उन्हें शान्तिप्रदान नहीं कर सका है, इसलिये कि धर्म की अवहेलनापूर्वक उसका भयङ्कर दुरुपयोग किया है। इस वैज्ञानिक उन्नति के विरुद्ध भी प्रतिक्रिया शुरू हुई और आजकल हो रही है। इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बहुत से विचारक और धर्म्म और विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध की छान-बीन करने और यह कहने के लिये बाधित हुए हैं कि विज्ञान (साइन्स) और धर्म्म दोनों का अटूट सम्बन्ध है। प्रोफ़ेसर हक्सले के शब्दों में साइंस और सच्चा धर्म्म दोनों सगी बहनें हैं। और एक का दूसरे से पृथक्करण निश्चय ही एक दूसरे के लिये विनाशकारी है। जितने अंश में साइंस में धर्म्म का पुट लगा होगा उतने ही अंश में वह फूले फलेगी। और जितने अंश में धर्म्म वैज्ञानिक होगा उतने अंश में ही वह फूले फलेगा। दार्शनिकों के कारनामे धर्म्म मार्ग में प्रेरित हुई बुद्धि के जितने फल हैं उतने केवल बुद्धि के नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों के सामने वैज्ञानिक धर्म्म रक्खा जाय। धर्म्म बुद्धि और ज्ञान का विषय है। पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्याग रूप आचार धर्म्म कहलाता है। धर्म्म वे नियम हैं जिनके अनुसार आचरण करने से लोक और परलोक सुधरते हैं। लोक सुधरने का अभिप्राय यही है कि आवश्यकता के अनुसार संसार से उतना ही अर्थ और काम ग्रहण किया जाय जिससे आयु के लिए भोग मिल जाय और किसी प्राणी की आयु और भोगों में कमी उत्पन्न न की जाय। परलोक सुधरने का अभिप्राय यही है कि सृष्टि के कारणों

का ज्ञान उत्पन्न हो जाय जिससे सृष्टि के कारणों के कारण परमात्म-देव का साक्षात् होकर मोक्ष प्राप्त होजाय। वैदिक धर्म्म का यही उद्देश्य है। देखना यह है कि यह धर्म वैज्ञानिक है वा नहीं और इससे राजनैतिक आवश्यकताएँ पूरी होती हैं वा नहीं? सृष्टि के कार्य्य-कारण-भाव की जांच का नाम ही साइंस है। क्या कोई विज्ञानवेत्ता इस प्रकार की जांच से उदासीन रह सकता है? कदापि नहीं। राजनीति का परम उद्देश्य अर्थ और काम का ठीक २ बटवारा और लोगों की रहन-सहन का निर्धारण है। इन दोनों का जैसा विशद स्पष्टीकरण सामंजस्य और आदर्श आर्य्य धर्म्म के मोक्ष प्रकरण तथा अर्थ काम सम्बन्धी बटवारे में दिया हुआ है वैसा कहीं भी नहीं देख पड़ता। अतः यह धर्म्म जहां वैज्ञानिक है वहां राज-नीति की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। इस धर्म्म का निश्चय वेद, स्मृति, वेदानुकूल आप्तोक्त मनुस्मृति आदि शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार जो सनातन अर्थात् वेद द्वारा परमेश्वर प्रतिपादित कर्म्म और अपने आत्मा में प्रिय अर्थात् जिनको आत्मा चाहती है जैसा कि सत्यभाषण इन चारों से होता है।

यही धर्म संसार के सम्मुख रक्खा जा सकता है और इसी से मानव समाज का कल्याण हो सकता है इसीलिये कोई भी विचार-शील आदमी इस धर्म से उदासीन हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आर्य्यों ने वेदों की आज्ञानुसार धर्म को बहुत महत्व दिया है और अर्थ, काम एवं मोक्ष को उसी के अधीन रक्खा है। वेदों में अर्थ, काम का सामंजस्य करते हुए उपदेश दिया गया है:—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
ईशावास्यमिदं सर्व्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।

अर्थात् जो अन्धकार—अज्ञान का नाश करने वाला प्रकाश स्वरूप सृष्टि का कर्ता परमेश्वर है उसी के जानने से मोक्ष मिलता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इस समस्त जगत् में वह हर जगह उपस्थित है इसलिये उसने सब को देकर जो तुम्हारे लिये निश्चित किया है उसी पर बसर करो । दूसरों के हक्कों को मत लो । यदि सारी आयु इसी प्रकार कार्य करते हुए जीने की इच्छा करोगे तो निश्चय ही मोक्ष हो जायगा इसके अतिरिक्त और कोई दूसरी सूरत नहीं है । उपर्युक्त मन्त्रों में दोनों ही बातें बता दी गई हैं । पहले मन्त्र में बतला दिया गया है कि संसार के कारण रूप परमात्मा के जानने से मोक्ष हो सकता है और दूसरी सूरत नहीं है और दो मन्त्रों में यह बतला दिया गया है कि अपनी यात्रा मात्र के ही हिसाब से अर्थ, काम को ग्रहण करो । इसी से मोक्ष हो सकता है । अर्थात् अर्थ, काम और मोक्ष को धर्मानुसार ग्रहण करने से मानव जीवन, मानव समाज और प्राणिसमूह का कल्याण हो सकता है, अर्थ के विपरीत आचरण से नहीं ।

मतमतान्तरों के मूलोच्छेद, विज्ञान और भौतिक दुष्प्रभावों से जन साधारण की रक्षा के लिये उपर्युक्त प्रकार के सच्चे और वैज्ञानिक-वैदिकधर्म के स्वरूप के अधिकाधिक स्पष्टीकरण तथा प्रचार की आवश्यकता है । जितना अधिक इसका प्रचार होगा उतना ही अधिक मनुष्य समाज का कल्याण होगा ।

अन्तर्जातीय विवाह की आवश्यकता

अन्तर्जातीय विवाहों को आर्य्य-समाज इसलिये प्रोत्साहित करता है कि जन्म की जात-पांत की दीवारों को उनके अगणित

अभिशापों के साथ छिन्न-भिन्न करके वैदिक-वर्ण व्यवस्था की स्थापना की जाय और समाज को अपनी स्वाभाविक स्थिति में गति करने दिया जाय। आर्य्य-समाज के इस सिद्धान्त का अर्थ विघातक नहीं है, जैसा कि आर्य्य-समाज के विरोधी समझते हैं वरन रचनात्मक है। विवाह पर समाज का कल्याण और उसकी स्वाभाविकता बहुत कुछ आश्रित है। विवाह का मुख्यतम उद्देश्य समाज को उत्तम सन्तान देना है। इसके लिए आवश्यक है कि योग्य लड़के और लड़कियों में विवाह हो जिनमें गुण, कर्म और स्वभाव इत्यादि की समता हो तथा वे उत्तम कुलों के हों। यह सम्भव है जब विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो और समाज का विकास गुण कर्म, स्वभाव पर आश्रित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के विभाजन पर हो, जन्म की जात-पांत पर न हो। यही उद्देश्य आर्य्य-समाज के अन्तर्जातीय विवाहों का है।

वर्त्तमान ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि वर्ण जन्म की जात-पांत पर आश्रित हैं और इसलिए कृत्रिम हैं। अपने २ वर्णों में विवाह करने की प्रवृत्ति से आर्थिक, सामाजिक तथा अन्यान्य कई प्रकार की हानियां हो रही हैं। योग्यों का अयोग्यों के साथ विवाह हो रहा है, इतना ही नहीं वरन् इस प्रवृत्ति की वजह से उनका भी विवाह हो रहा है जो विवाह के क़तई अधिकारी नहीं हैं। परिणाम यह है कि अयोग्य सन्तानों की, मूर्खों, नपुंसकों बहरों, गूंगों भद्दी सूरत वालों, आत्महत्या करने वालों, वेश्याओं, पागलों, चिड़चिड़े स्वभाव वालों और अन्य अपराध करने वालों की संख्या बढ़ रही है। यह तो रहा इस समस्या का सामाजिक पहलू।

जन्म की जात-पांत के कारण विवाह के सङ्कुचित क्षेत्र में एक दूसरी कठिनाई सामने आती है। योग्य लड़कों और लड़कियों के संरक्षकों को धन लूटने का अमोघ अवसर प्राप्त हो जाता है। कुछ जातियों

में लड़कियों की तुलना में लड़कों की संख्या अधिक है, दूसरी जातियों में लड़कियों की संख्या अधिक है। इस प्रकार मांग और उसकी पूर्ति का नियम क्रिया में आरहा है इसलिये हम देखते हैं कुछ जातियों में (आम तौर पर ऊंची जातियों में) लड़कों के अभिभावक लड़कियों के अभिभावकों से इतना अधिक पैसा मांगते हैं कि लड़की की शादी ही होना कठिन हो जाती है। दूसरी जातियों में (आम तौर पर नीची जातियों में) लड़के के अभिभावकों से लड़की के अभिभावक पैसा लिया करते हैं। परिणाम यह है कि बड़ी २ उम्र के लड़के और लड़कियां बिन ब्याहे बैठे रहते हैं और इस प्रकार बैठने के दुष्परिणाम प्रत्यक्ष ही हैं। यह कठिनाई तभी दूर हो सकती है जब विवाह का क्षेत्र विस्तृत हो जाय और यह अन्तर्जातीय विवाहों से ही हो सकता है।

एक ही वर्ण में विवाह करने का एक और दुष्परिणाम है जिसे हम सहज ही नहीं जान सकते हैं। यह गम्भीर अध्ययन और समझ का विषय है। वैज्ञानिकों की स्थापना है कि एक ही जाति या उपजाति में यदि दीर्घ काल तक विवाह होते रहें तो एक ही रक्त के दौर से सन्तानों का शरीर और दिमाग़ का विकास स्थिर हो जाता है, उनमें नये रक्त के न आने से नूतनता नहीं आती और कालान्तर में समाज के विकास का स्रोत कुंठित होकर उसका विनाश हो जाता है। यह विषय सम्यक् विचार की अपेक्षा रखता है और अधिक विस्तार चाहता है। इस समय हम केवल संकेत ही किये देते हैं। इस बात को उन लोगों को विशेष रूप से नोट करना चाहिये जो यह कहते हैं कि जब अपने वर्ण में ही योग्य जोड़ मिल जाय तो क्यों अन्य वर्ण में शादी की जाय।

इन सब बातों को देखते हुए आवश्यक है कि अन्तर्जातीय विवाहों को अपनाया जाय और उनका प्रचार किया जाय। एक बात और,

लड़के लड़कियों की योग्यता, रुचि, गुण, स्वभाव तथा कुल ही अन्तर्जातीय-विवाहों में सर्वोपरि होने चाहिएँ, केवल जन्म की जात-पांत को तोड़ने का ही एक मात्र भाव सर्वोपरि नहीं होना चाहिये। ऐसा होने से लाभ के बदले हानि ही होगी। साथ ही आर्य्य-विवाह ऐक्ट की स्पिरिट में ही ये विवाह होने चाहियें सिविल-मेरेज ऐक्ट वा उससे मिलते-जुलते ऐक्ट की स्पिरिट में नहीं जो हमें हमारे शास्त्रों और धर्म्म और आदर्शों से विमुख करते हैं।

॥ इति शुभम् ॥